इस्लाम के बारे में शंकाएँ

मुहम्मद ज़ैनुल-आबिदीन मंसूरी

ISLAM KE BARE MEIN SHANKAEIN (Hindi)
इस्लामी साहित्य ट्रस्ट प्रकाशन न० -276

किताब का नाम : इस्लाम के बारे में शंकाएँ
लेखक : मुहम्मद ज़ैनुल-आबिदीन मन्सूरी

नोट : यह पुस्तक पहले "इस्लाम भ्रांतियों और आक्षेपों का निवारण" के नाम से प्रकाशित होती रही है।

पृष्ठ : 64
चौथे संस्करण तक प्रकाशित संख्या : 4,400
पांचवां संस्करण : फ़रवरी 2020 ई०
संख्या : 1,000
मूल्य : ₹34.00

मुद्रक : एच० एस० प्रिंटर्स, द्रोनिका सिटी, यू०पी०

विषय सूची

दो शब्द

हमारे प्रिय देश में विभिन्न जातियों और धार्मिक समुदाय के लोग सदियों से साथ-साथ रहते आए हैं। उनमें सामान्यतः बहुत अच्छे और सौहार्दपूर्ण व शान्तिमय संबंध रहे हैं। साथ ही कुछ ऐतिहासिक और कुछ राजनीतिक कारणों से उनके संबंधों में कभी-कभी कुछ कड़ुवाहट भी आती रही है, विशेष रूप से मुस्लिम समुदाय और ग़ैर-मुस्लिम समुदाय के बीच। इस कड़ुवाहट को इस हद तक बढ़ा देने में कि दोनों समुदायों के बीच शान्ति व सौहार्द की स्थिति को बड़े-बड़े आघात पहुंचने लगें, इस्लाम के (तथा मुस्लिम समुदाय के) प्रति ग़लतफ़हमियों की प्रबल भूमिका रही है। अज्ञान व अविश्वास की धरती पर कंटीले व ज़हरीले झाड़-झंकाड़ उगते रहे हैं।

इन परिस्थितियों के कारण कुछ भी हों; चाहे ग़लतफ़हमियां, नाजानकारी या ग़लत जानकारी की वजह से पैदा होती और फैलती हों, चाहे आरोप व आक्षेप दुर्भावनावश किए जा रहे हों; हर हाल में भारतीय मुसलमानों का यह कर्तव्य बनता है कि वे अपने देशबन्धुओं की उलझनें, शंकाएं और भ्रान्तियां दूर करें, उनके एतिराज़ात और आपत्तियों का सज्जनतापूर्वक निवारण करें, उनके प्रश्नों के संतोषजनक उत्तर दें, उनके संदेहों का समाधान करें। ऐसा, हालात के दबाव या साम्प्रदायिक कूटनीति के अन्तर्गत नहीं, बल्कि इस क़ुरआनी शिक्षा के अनुसार होना अनिवार्य है कि मुस्लिम समुदाय पूरी मानवजाति के हित के लिए (ईश्वर द्वारा) उत्पन्न व सम्पन्न किया गया है (3:110)। इस इस्लामी विचारधारा के अनुसार उसका दायित्व है कि वह सत्य-धर्म इस्लाम की वास्तविक तस्वीर उन भाई-बन्धुओं के सामने पेश करे जो इस्लाम को नहीं जानते, जिसके परिणामस्वरूप वह तरह-तरह की ग़लतफ़हमियों, शंकाओं, सन्देहों और दुर्भावनाओं के शिकार हैं।

यह संक्षिप्त पुस्तिका, इसी पुण्य उद्देश्य से लिखी गई है। ईश्वर से प्रार्थना और अल्लाह से दुआ है कि इस उद्देश्य की पूर्ति में इस पुस्तिका का योगदान सफल कर दे। आमीन!

नई दिल्ली

मार्च 2010 ई॰ **मुहम्मद ज़ैनुलआबिदीन मंसूरी**

तलाक़ : औरत पर अत्याचार?

"इस्लाम में तलाक़ का प्रावधान है जो व्यक्तिगत स्तर पर पत्नी पर, और सामाजिक स्तर पर नारी-जाति पर अत्याचार है। व्यापक क्षेत्र में यह लिंग-समानता (Gender Equality) के भी विरुद्ध है क्योंकि औरत को तलाक़ देने का हक़ प्राप्त नहीं है; इस प्रकार कुल मिलाकर यह नारी-अधिकार का हनन भी है।"
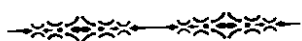
इस्लाम वास्तव में एक संपूर्ण जीवन व्यवस्था है। व्यक्तिगत, दाम्पत्य, पारिवारिक और सामाजिक, सारे पहलू तथा इनके वैचारिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, नैतिक, भावनात्मक तथा आर्थिक और क़ानूनी एवं न्यायिक, सारे आयाम एक दूसरे से अभाज्य रूप से संबद्ध, संलग्न और इस प्रकार अन्तर्संबंधित हैं कि जीवन के किसी एक विशेष अंग, अंश, पक्ष या आयाम को 'समग्रता' (Totality) से अलग करके नहीं समझा जा सकता। उपरोक्त भ्रम या आक्षेप, 'समग्रता' से 'अंश' को पृथक (Isolate) करके देखने से पैदा होते हैं। आक्षेप का एक कारण यह भी है कि 'कुछ तत्वों' की नीति ही इस्लाम के प्रति दुराग्रह, घृणा, विरोध और दुष्प्रचार की है। दूसरा कारण यह भी है कि स्वयं मुस्लिम समाज में कुछ नादान व जाहिल लोग, तलाक़ के इस्लामी प्रावधान को क़ुरआन की शिक्षाओं तथा नियमों के अनुकूल इस्तेमाल नहीं करते, जिससे स्त्री पर अत्याचार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उनके इस कुकृत्य से, वे ग़ैर-मुस्लिम लोग, जो नादान मुसलमानों की ग़लती का शिकार हो जाने वाली औरत से सहानुभूति रखते हैं, यह निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि यह ग़लती इस्लाम की है, त्रुटि इस्लामी विधान में है। और मुस्लिम समाज में पाए जाने वाले इस व्यावहारिक दोष का एक बड़ा कारक यह भी है कि हमारे देश के मुस्लिम समाज की उठान और संरचना उस 'इस्लामी शासन व्यवस्था' के अंतर्गत तथा उसके अधीन रहकर नहीं हो रही है (और न ही हो सकती है) जो इस्लाम के अनुयायियों के जीवन के हर क्षेत्र को पूरी व्यापक व समग्र जीवन व्यवस्था की एक पवित्र तथा न्यायपूर्ण व नैतिक लड़ी में पिरो देता है; जहां न पत्नी पर दुष्ट पति के अत्याचार की गुंजाइश रह जाती है, न उद्दंड व नाफ़रमान पत्नियों

द्वारा पतियों के शोषण की गुंजाइश। (गत कई वर्षों से हमारे देश में पत्नियों के अत्याचार से पीड़ित व प्रताड़ित पतियों के संगठन काम कर रहे हैं तथा जुलाई 2009 में, ऐसे संगठनों के हज़ारों सदस्यों का जमावड़ा राजधानी दिल्ली में हुआ था)।

तलाक़–अत्यंत नापसन्दीदा काम

हलाल और जायज़ (वैध) कामों में सबसे ज़्यादा नापसन्दीदा और अवांछित काम इस्लाम में तलाक़ को माना गया है। दाम्पत्य-संबंध-विच्छेद (तलाक़) को इस्लाम उस अतिशय परिस्थिति (Extreme situation) में कार्यान्वित होने देता है जब दाम्पत्य संबंध इतने ज़्यादा ख़राब हो जाएं कि दम्पत्ति, संतान, परिवार और समाज के लिए अभिशाप बन जाएं। ऐसे में इस्लाम चाहता है कि पति व पत्नी एक-दूसरे से आज़ाद होकर अपनी पसन्द का नया जीवन शुरू कर सकें। अरबी शब्द 'तलाक़' में इसी 'आज़ाद होने' का भाव निहित है। इस्लाम इस बात को गवारा नहीं करता कि पति-पत्नी में आए दिन लड़ाई-झगड़ा, मार-पीट, गाली-गलौज का वातावरण रहे, बच्चे ख़राब हों, उनका भविष्य नष्ट हो, पति-पत्नी एक-दूसरे की हत्या करें/कराएं या आत्महत्या कर लें, पति घर छोड़कर चला जाए या पत्नी को घर से निकाल दे, परिवार अशांति व बदनामी की आग में जलता रहे लेकिन जैसा कि हमारे भारतीय समाज की दृढ़ व व्यापक परम्परा रही है, दोनों में संबंध-विच्छेद न हो। इस परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो तलाक़ को 'अत्याचार' कहने वाले लोग स्वयं, इसे पति व पत्नी के लिए, विशेषतः स्त्री के लिए 'वरदान' और 'न्याय' कहेंगे कि वह एक नरक-समान जीवन जीने पर मजबूर रहने के और पीड़ा, प्रताड़ना, अत्याचार, घुटन, कुढ़न व अशान्ति से ग्रस्त रहने के बजाय एक नया, शान्तिमय व गौरवपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए आज़ाद हो गई। और यही विकल्प पुरुष को भी प्राप्त हो गया।

दो अतियां (Extremes)

हमारे देश में, सेक्युलर क़ानून-व्यवस्था में कुछ समय पूर्व तलाक़ का प्रावधान किए जाने से परे, मूल तथा प्राचीन भारतीय सभ्यता और धार्मिक परम्परा में तलाक़ की गुंजाइश ही नहीं है। दाम्पत्य जीवन चाहे जितना असमान्य, कुण्ठित, समस्याग्रस्त हो जाए, पति-पत्नी के संबंधों में चाहे जितनी

कटुता आ जाए, दोनों के लिए दाम्पत्य-संबंध अभिशाप बनकर रह जाए, यहां तक कि एक-दूसरे के प्रति अत्याचार, अपमान, अपराध की परिस्थिति भी बन जाए, संबंध-विच्छेद किसी हाल में भी नहीं हो सकता। औरत के पास, मायके से डोली उठने के बाद, ससुराल से अर्थी उठने के सिवाय कोई विकल्प ही नहीं रहता।

दूसरी तरफ़, पाश्चात्य सभ्यता में तलाक़ देना/लेना (कोर्ट के माध्यम से) इतना सरल और इतना अधिक प्रचलित है कि ज़रा-ज़रा सी बात पर तलाक़ हो जाती है। कच्चे धागे की तरह दाम्पत्य-संबंध टूट जाते/तोड़ दिए जाते हैं। 'सिंगिल पैरेंट फैमिली' का अभिशाप नन्हे-नन्हे बच्चे भी झेलते हैं और समाज भी झेलता है। पति-पत्नी दाम्पत्य जीवन की गरिमा व महत्व के प्रति संवेदनहीन (Insensitive) होते जा रहे हैं। कुछ लोग तो पति-पत्नी ऐसे बदलते हैं जैसे मकान, लिबास और कारों के मॉडल।

सन्तुलित, मध्यम-मार्ग

इस्लाम, भारतीय मूल-सभ्यता और पाश्चात्य सभ्यता की उपरोक्त दो अतियों (Extremes) के बीच एक संतुलित 'मध्यम मार्ग' अपनाता है। न तलाक़ को वर्जित, अवैध, असंभव बनाता है, न खेल-खिलवाड़ की तरह आसान। विशेषतः औरत पर, उपरोक्त दोनों अतियों (ज़्यादती) में जो अत्याचार और उसका जो बहुपक्षीय शोषण होता है वही आपत्तिजनक तथा आक्षेप का पात्र है, न कि इस्लाम का, तलाक़ का प्रावधान।

इस्लाम में इस बात का प्रावधान है कि पति, अत्यंत असहनीय परिस्थिति में पत्नी को तलाक़ दे सकता है और स्त्री नियमानुसार विधिवत प्रक्रिया द्वारा पति से तलाक़ प्राप्त कर सकती है। यह प्रक्रिया विस्तार के साथ शरीअत ने निश्चित व निर्धारित कर दी है। अलबत्ता स्त्री को स्वयं तलाक़ देने का अधिकार न देने में इस्लाम ने इस तथ्य का भरपूर ख़्याल रखा है कि स्त्री अपने स्वभाव, मनोवृत्ति, मानसिकता व भावुकता में पुरुष से भिन्न बनाई गई है। उसकी भावनात्मक स्थिति इतनी नाज़ुक होती है कि वह बहुत जल्द अत्यंत भावुक हो उठती है। जिस प्रतिकूल एवं कठिन व असह्य परिस्थिति में पुरुष आत्मसंयम व आत्म-नियंत्रण द्वारा तलाक़ देने से रुका रहता है, संभावना रहती है कि वैसी ही परिस्थिति में स्त्री का आत्म-बल उसकी भावुकता व क्रोध

से हार जाए और वह तलाक़ दे बैठे। इसे पाश्चात्य समाज ने सही भी साबित कर दिया है। अपनी पसन्द का चैनल देखने पर आग्रह करने वाली पत्नी ने अपनी पसन्द का चैनल देखने पर आग्रह करने वाले पति से रिमोट कन्ट्रोल न पाकर गुस्से में तलाक़ ले लिया। पति के खर्राटों से रात को नींद न आने पर परेशान और क्रोधित पत्नी ने तलाक़ ले लिया। ब्वाय-फ्रेण्ड के साथ मनोरंजन करने पर पति द्वारा एतराज़ किए जाने पर पत्नी ने भावुक व क्रोधित होकर तलाक़ ले लिया। पति की किसी बात से अत्यधिक कष्ट या उसके किसी व्यवहार से अपमानित महसूस करके या किसी घरेलू झगड़े में भावुक होकर बिना बहुत दूर तक, बहुत आगे की सोचे, (पति के द्वारा तलाक़ देने की तुलना में) पत्नी द्वारा तलाक़ दे देना अधिक संभावित होता है। इसी वजह से इस्लाम स्त्री को तलाक़ लेने का अधिकार तो देता है, तलाक़ देने का अधिकार नहीं देता। तलाक़ लेने की प्रक्रिया में इस्लामी शरीअत कुछ और लोगों को भी दोनों के बीच में डालती है और विधि के अनुसार कुछ समय तक समझाने-बुझाने (counselling) की प्रक्रिया जारी रखने के बाद यदि विश्वास हो जाता है कि संबंध विच्छेद हो जाना ही औरत के लिए भलाई व न्याय का तक़ाज़ा है तो शरीअत उसे तलाक़ दिलाकर पति से आज़ाद करा देती है। इस प्रक्रिया को शरीअत की परिभाषा में 'खुलअ़' कहा जाता है।

तलाक़शुदा औरत के प्रति सहानुभूति

तलाक़ पर आपत्ति करने का एक सकारात्मक कारक भी है कि लोग तलाक़शुदा औरत से सहानुभूति रखते हैं लेकिन चूंकि वे उसके बारे में इस्लाम की पारिवारिक तथा सामाजिक व्यवस्था को जानते नहीं, इसलिए समझते हैं कि ऐसी अबला, औरत को कोई पूछने वाला, सहारा देने वाला नहीं है इसलिए तलाक़ उस पर साक्षात् अत्याचार, शोषण और अन्याय है। लेकिन सच्ची बात यह है कि इस्लाम उसे बेसहारा, अबला और दयनीय बनाकर नहीं छोड़ता, उसने उसके लिए कई प्रावधान, कई स्तरों पर किए हैं, जैसे :

(1) विवाह के समय ही इस्लाम, पत्नी को पति से स्त्री धन (महर) दिलाता है। इस धन पर उसके पति या ससुराली नातेदारों का ज़रा भी हक़ नहीं होता, वह स्वयं उसकी मालिक होती है, कठिन व प्रतिकूल परिस्थिति में (जैसे तलाक़ के बाद) यह धन उसका सहारा बनता है।

(2) विवाह के समय या दाम्पत्य जीवन में पति जो कुछ भी धन, गहने, सामग्री, सम्पत्ति पत्नी को देता है, तलाक़ होने पर उससे वापस नहीं ले सकता।

(3) तलाक़ के बाद स्त्री वापस अपने मायके की ज़िम्मेदारी में चली जाती है। वहां माता-पिता या भाइयों पर उसकी आजीविका तथा भरण-पोषण की ज़िम्मेदारी लागू हो जाती है। वह बेसहारा नहीं रह जाती।

(4) मायके में पहुंचकर यदि तलाक़शुदा औरत दूसरा विवाह करना चाहे तो मायके वालों को न सिर्फ़ यह कि उसे इससे रोकने या पुनर्विवाह में रोड़े अटकाने का अधिकार नहीं बल्कि अनिवार्य रूप से उनका कर्तव्य है कि उसकी पसन्द का रिश्ता ढूंढ़ कर उसकी शादी कराएं और उसका नया घर बसा दें।

(5) औरत का उसके मृत माता-पिता के धन-सम्पत्ति में शरीअत ने निर्धारित हिस्सा रखा है। माता-पिता की छोड़ी हुई दौलत, मकान, जायदाद, फैक्ट्री, कारोबार, ज़मीन, कृषि-भूमि आदि में उसका हिस्सा क़ुरआन में सविस्तार निर्धारित कर दिया गया है (4:11,12,176)। इस निर्धारण को क़ुरआन ने 'अल्लाह की सीमाएं' (हुदूद-उल्लाह) कहा है जिसके अन्दर न रहनेवालों को हमेशा के लिए नरक में जलने की घोर चेतावनी दी गई है (4:14)। इसी तरह भाइयों और कुछ अन्य रिश्तेदारों के धन-सम्पत्ति में भी उसे हिस्सा दिया गया है। तलाक़शुदा औरत पुनर्विवाह कर ले तब भी और न करे तब भी वह हिस्से पाने की अधिकारी बनाई गई है।

(6) सामान्यतः कोई कुंवारा व्यक्ति किसी तलाक़शुदा स्त्री से शादी नहीं करता। इन्सानी प्रकृति के रचयिता ईश्वर ने इसी बात का ख़्याल रखते हुए शरीअत में बहु-पत्नीत्व (Polygyny) की गुंजाइश रखी है ताकि तलाक़शुदा (और विधवा) औरतों को लोग दूसरी (या अतिविशिष्ट परिस्थितियों में तीसरी, चौथी) पत्नी बनाकर उनका सहारा बन जाएं।

इतने प्रावधानों के साये में 'तलाक़' औरत के लिए अत्याचार व अभिशाप नहीं बन पाता। हां मुस्लिम समाज में नादानी, अज्ञानता के कारण पाई जाने वाली कुछ कमियों के कारण से कुछ मामलों में तलाक़शुदा औरत को कुछ कठिनाइयां अवश्य पेश आती हैं लेकिन ख़ुदा का ख़ौफ़ (परलोक की सज़ा का

डर), इस्लामी नैतिकता, परिवार और समाज का दबाव आदि कुछ ऐसे कारक हैं, जो ऐसी औरत को सहारा उपलब्ध कराते रहते हैं। दूसरी तरफ़ मुस्लिम समाज में कुरआन, हदीस, शरीअत और नैतिकता के हवालों से शिक्षा व चर्चा हमेशा ज़ारी रहती है, समाज-सुधार के प्रयत्न बराबर होते रहते हैं। परिणामस्वरूप अज्ञान व जिहालत का स्तर निरंतर नीचे गिरता रहता है और तलाक़शुदा औरत की उस तथाकथित दुर्दशा की स्थिति मुस्लिम समाज में बनने नहीं पाती जिसका बड़े पैमाने पर दुष्प्रचार किया जाता या जिसको एक मुद्दा बनाकर रह-रहकर इस्लाम पर आक्षेप किया जाता, मुस्लिम समाज पर "तलाक़" के अत्याचार व अभिशाप होने का आरोप लगाया जाता, इस्लाम के प्रति घृणा का वातावरण बनाया जाता है। या सीधे-सादे देशबंधुओं में अज्ञानवश 'तलाक़-इस्लाम-मुस्लिम समाज' के हवाले से ग़लतफ़हमियां पाई जाने लगती हैं।

बहुपत्नीत्व–नारी जाति पर अत्याचार?

इस्लाम में बहुपत्नीत्व का प्रचलन है जो नारी के शोषण तथा उसके प्रति दुर्व्यवहार व अत्याचार है। विशेषतः भारत के परिप्रेक्ष्य में इसका एक मुख्य आयाम यह भी है कि मुसलमान कई-कई पत्नियां रखकर अधिक सन्तानोत्पत्ति करके अपनी जनसंख्या बढ़ा रहे हैं। इस प्रकार कुछ वर्षों में वे बहुसंख्यक समुदाय बनकर देश की सत्ता अपने हाथ में कर लेना चाहते हैं।
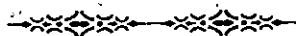
ईश्वरीय धर्म मानव-इतिहासके विभिन्न चरणों में, विभिन्न भू-भागों की विभिन्न जातियों व क़ौमों के हाथों बार-बार विकरित व प्रदूषित होते-होते तथा बार-बार ईशदूतों के आगमन द्वारा सुधार प्रक्रिया जारी किए जाते-जाते, क़रीब 1400 वर्ष पूर्व जब 'इस्लाम' के रूप में आया, उस समय बहुपत्नीत्व (Polygyny) विभिन्न रूपों में विश्व के लगभग हर समाज, संस्कृति में प्रचलित था। उदाहरणतः स्वयं हिन्दू समाज की अत्यंत महत्वपूर्ण, महान आदर्णीय धार्मिक विभूतियों तथा महापुरुषों की कई-कई पत्नियों व रानियों का उल्लेख धर्म ग्रंथों में मौजूद था। अरब समाज में भी–जिसमें ईशग्रंथ क़ुरआन के अवतरण के साथ इस्लाम का पुनरागमन हुआ–पत्नियों की अधिकतम संख्या निर्धारित व नियंत्रित न थी। इस्लाम ने "अधिकतम चार" की संख्या निर्धारित कर दी। इस प्रकार इस्लाम ने 'बहुपत्नीत्व' का प्रचलन आरंभ नहीं किया बल्कि 'अधिकतम सीमा' का निर्धारण व नियंत्रण किया।

बहुपत्नीत्व की इजाज़त

इस्लाम ने यह इजाज़त (आज्ञा) दी कि व्यक्तिगत, सामाजिक तथा नैतिक स्तर पर यदि ऐसी परिस्थिति का सामना हो कि बहुपत्नी-विवाह, पुरुष, स्त्री, परिवार तथा समाज के लिए लाभप्रद हो तो पुरुष परिस्थिति-अनुसार दो, तीन या अधिक से अधिक चार पत्नियां रख सकता है। यह इजाज़त इस शर्त के साथ (Conditional) है कि सभी पत्नियों के बीच पूर्ण न्याय व बराबरी का मामला किया जाए। अगर ऐसा न होने की आशंका हो या पुरुष में इसका

सामर्थ्य न हो, तो शरीअत का आदेश है कि 'बस एक ही' पत्नी के साथ दाम्पत्य जीवन बिताया जाए।

मुस्लिम समाज में लगभग डेढ़ हज़ार वर्षों से आज तक हर देश में हमारे देश भारत में भी इसी बात पर अमल होता रहा है। अगली पंक्तियों में यह देखने का प्रयास किया जा रहा है कि यद्यपि सामान्य परिस्थितियों में, मुस्लिम समाज सहित किसी भी समाज में बहुपत्नीत्व वस्तुतः प्रचलित नहीं है तो फिर वे कौन-सी विशेष (असामान्य) परिस्थितियां हैं जिनमें बहुपत्नीत्व की ज़रूरत पड़ सकती है? इसके फ़ायदे क्या हैं तथा इसे निषिद्ध कर देने की हानियां क्या हैं? इसे निषिद्ध और ग़ैर-क़ानूनी घोषित कर देने तथा इसका रास्ता बन्द कर देने से पुरुष, स्त्री, संतान, परिवार, समाज और व्यवस्था पर क्या-क्या कुप्रभाव पड़ते हैं?

विभिन्न परिस्थितियां

★ **परिस्थिति–1 :** पत्नी किसी कारणवश संतानोत्पत्ति की क्षमता नहीं रखती। वह बांझ हो सकती है या उसे कोई विशेष रोग हो सकता है। पति, पिता बनने और अपनी नस्ल आगे बढ़ाने की कामना का दमन करने में स्वयं को असमर्थ पाता है।

★ **परिस्थिति–2 :** पत्नी किसी ऐसे यौन-रोग (Veneral desease) से ग्रस्त हो जाए कि चिकित्सा-विशेषज्ञों द्वारा पति को उसके साथ शारीरिक संपर्क करने की मनाही कर दी जाए। इस स्थिति में पति स्वयं पर नियंत्रण रखने में सहज ही असमर्थ हो जाएगा।

★ **परिस्थिति–3 :** किसी विधवा स्त्री का कोई सहारा न हो। उसे मानसिक, भावनात्मक, पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक व चारित्रिक संकट और सहज कामेच्छा पूर्ति में बाधा, असुरक्षा, अपमान, उत्पीड़न व शोषण और असंतुष्टि आदि से जूझना पड़ रहा हो, या इसकी प्रबल आशंका हो। कोई भी कुंवारा व्यक्ति उससे विवाह करने को तैयार न हो (जो कि एक अकाट्य सामाजिक तथ्य है)। और मायके/ससुराल में उस विधवा का कोई सहारा न हो।

★ **परिस्थिति–4 :** किसी विधवा के छोटे-छोटे बच्चे हों। इन मासूमों के 'अनाथपन' और अपने 'विधवापन' का दोहरा बोझ उठाना एक अबला के लिए

कठिन, असह्य या अभिशाप बन जाए। न मायका, न ससुराल, न रिश्तेदार न समाज, कोई भी उसकी सहायता के लिए आगे न आ रहा हो।

★ **परिस्थिति–5 :** किसी बड़े युद्ध, या महायुद्ध में पुरुष इतनी बड़ी संख्या में मारे जाएं कि अविवाहित या विधवा स्त्रियों की संख्या, जीवित/कुंवारे पुरुषों से बहुत अधिक हो जाए।

★ **परिस्थिति–6 :** पुरुष में यौन-शक्ति व कामवासना इतनी अधिक हो कि वह आत्म-संयम व आत्म-नियंत्रण में असमर्थ हो जाए; एक पत्नी से वह संतुष्ट न हो पा रहा हो तथा यह असंतुष्टि इतनी प्रबल हो जाए कि धार्मिक संवेदनशीलता, नैतिकता या सामाजिक परम्परा तथा सर्वमान्य आचारसंहिता पर भारी पड़ जाए।

देखना चाहिए कि उपरोक्त परिस्थितियों में 'ग़ैर-इस्लाम' (Non-Islam) और 'इस्लाम' के पास क्या-क्या विकल्प (Alternative) हैं। यह भी देखना चाहिए कि हर तत्संबंधित विकल्प स्त्री के प्रति अत्याचार व अभिशाप है या वरदान व सम्मान। साथ ही यह बात भी कि स्वयं पति, दाम्पत्य जीवन, परिवार और सामाजिक व्यवस्था के लिए कौन-सा विकल्प हानिकारक है और कौन-सा विकल्प लाभदायक।

ग़ैर-इस्लामी (Non-Islamic/Anti-Islamic) विकल्प

उपरोक्त परिस्थितियों में ग़ैर-इस्लामी विकल्प (एकपत्नीत्व, Monogyny) के प्रभाव व परिणाम निम्नलिखित हैं :

1. पति, पत्नी से, परिवार से, और क़ानून-व्यवस्था से छिपा कर दूसरा विवाह कर ले। दूसरे शब्दों में, वह सब को धोखा देता रहे, दूसरी पत्नी पर अपने समय और धन के ख़र्च को छिपाने के लिए पहली पत्नी तथा अन्य परिवारजनों से हमेशा झूठ बोलता रहे। इतने सारे बखेड़े पालने की क्षमता न हो तो बेचारी, बेक़सूर पहली पत्नी से 'छुटकारा' पाने का कोई अनैतिक या अपराधपूर्ण रास्ता इख़्तियार कर ले।

2. किसी स्थाई रोग-वश पत्नी से शारीरिक संबंध स्थापित न किया जा सकता हो तो चोरी-छिपे पराई स्त्रियों से अनैतिक संबंध स्थापित किया जाता है। ऐसी स्त्रियों की संख्या कितनी भी हो सकती है। अनाचार व व्यभिचार की इस परिधि की कोई सीमा नहीं। कितनी स्त्रियों का शील भ्रष्ट होता है,

कोई चिंता नहीं। कितने यौन-दुराचार होते हैं, ससहमति यौनाचार (Consensual sex) के तर्क पर क़ानून व प्रशासन की ओर से कोई पकड़ नहीं। मौजूद पत्नी का कितना अधिकार-हनन होता है, कोई फ़िक्र नहीं। पुरुष, पत्नी तो 'एक' ही रखे और रखैलें (Concubines) कई रखे, कोई हर्ज नहीं। नगर-नगर वैश्यालय खुले हुए हों जहां नारी-शील खरीदा-बेचा जा रहा हो, ठीक है। पति जहां चाहे मुंह मारे, समाज में जितनी चाहे गन्दगी फैलाए, जितनी भी युवतियों व नारियों के शील के साथ खिलवाड़ करे, सब ठीक है लेकिन वैध व जायज़ रूप में दूसरी पत्नी घर ले आए तो 'नारी पर अत्याचार' का दोषी व आरोपी ठहरे। या पहली (बेक़सूर) पत्नी से 'किसी और' विधि से, पहले छुटकारा पा ले, तभी दूसरा विवाह करे। यह छुटकारा तलाक़ द्वारा भी हो सकता है; और अदालती तलाक़ के लंबे बखेड़े में उलझना मुश्किल हो, तो हत्या करके या हत्या कराके भी या रसोई में आग लग (लगा) कर भी।

3. पहले 'सती' का विकल्प था। अब क़ानून ने विधवा को इस 'विकल्प' से 'वंचित' कर दिया है लेकिन क़ानून विधवा को कोई बेहतर प्रभावकारी, ठोस विकल्प प्रदान करने से असमर्थ है अतः उसने यह काम परिवार तथा समाज के लिए छोड़ दिया है। मायके के परिवार में सामान्यतया विधवा (बेटी, बहन) की वापसी की परम्परा नहीं है। अगर वह वापस गई भी तो चूड़ियां तोड़ कर, मांग सूनी करके, श्रृंगार से वंचित रहकर, सफ़ेद साड़ी पहनकर, अभागिन, अबला बनकर, ननदों व भावजों के ताने-कोसने सहकर, बेबसी, लाचारी की अवस्था में भाई-भावज की सेविका, दासी बनकर रहने के लिए। समाज न तो उसे दूसरा विवाह करने की अनुमति देता न किसी पुरुष को अनुमति देता है कि वह विवाहित रहते हुए उस दुखियारी को पत्नी बनाकर उसकी सारी समस्याओं का समाधान कर दे (और क़ानून भी उसे इसकी इजाज़त नहीं देता)। इसलिए समाज या तो उस विधवा को धक्के खाने और नाना प्रकार को शोषण व उत्पीड़न-अपमान झेलने के लिए छोड़ देगा; या कुछ दया आ ही गई तो किसी विधवाश्रम में डाल आएगा। यह अलग बात है कि कुछ विधवाश्रम बेचारी विधवाओं का सुनियोजित देहव्यापार भी करते हों।

4. लगभग वही विकल्प जो परिस्थिति 3 में व्यक्त किए गए। ज़्यादा से ज़्यादा, अनाथों को अनाथालयों के सुपुर्द कर देने का प्रावधान, जहां यदि नैतिकता या ईशपरायणता के गुण प्रबल व सक्रिय न हों तो अनाथों पर

अत्याचार और उनका बहुआयामी शोषण। विधवा मां अलग, उसके कलेजे के टुकड़े अलग।

5. 'परिस्थिति-5' के अंतर्गत, इतिहास साक्षी है कि स्त्रियां और विधवाएं जन-सम्पत्ति (Public Property) बन जाने पर विवश हुईं। नारी-जाति के इस जघन्य यौन-शोषण के अतिरिक्त समाज और व्यवस्था के सामने कोई विकल्प न रहा।

6. वही विकल्प, जो 2 में उल्लिखित है।

इस्लामी विकल्प :

उपरोक्त परिस्थितियों में इस्लाम ने 'बहुपत्नीत्व' का विकल्प दिया। इसमें नारी के यौन-संरक्षण व सुरक्षा (Sexual security) का निश्चित होना निहित है। फिर उसकी भावनात्मक, मानसिक, मनोवैज्ञानिक (Psychological), शारीरिक, भौतिक, आर्थिक व सामाजिक सुरक्षा को निश्चित किया गया है, यह उस पर इस्लाम का उपकार व एहसान है, इसे अत्याचार व शोषण और अपमान वही व्यक्ति कह सकता है जिसका विवेक मुर्दा हो चुका है। इससे आगे, बहुपत्नीत्व का यह इस्लामी प्रावधान स्वयं पति के शील, सज्जनता, सदाचरण तथा नैतिक अस्तित्व के लिए एक शुभ तंत्र है। विधवाओं की समस्या से लेकर अनाथों की समस्या तक, इससे स्वतः हल होती रहती है और समाज का नैतिक ताना-बाना बिखरने नहीं पाता।

किसी बड़े युद्ध या 'महायुद्ध' में जब लाखों लोग (अधिकतर पुरुष) मारे जाएं और लाखों स्त्रियां विधवा हो जाएं तो ग़ैर-इस्लामी सभ्यता का इतिहास बताता है कि ऐसी स्त्रियों में से अधिकतर को जन-सम्पत्ति (Public Property) बनाकर रख देने के सिवाय, समाज व सामूहिक तंत्र के पास और कोई विकल्प नहीं रह जाता। इस्लाम ऐसी असाधारण/आपात परिस्थिति में बहुपत्नीत्व का विकल्प खुला रखकर बेसहारा विधवाओं को सामाजिक, आर्थिक, एवं मानसिक उत्पीड़न तथा यौन-शोषण से बचा लेता है।

बहुपत्नीत्व और जनसंख्या वृद्धि

किसी भी समाज की तरह मुस्लिम समाज की भी सामान्य व्यावहारिक व वास्तविक स्थिति इस बात का खंडन करती है कि 'हर मुसलमान चार शादियां

करता है'। इससे बड़ी मूर्खता की बात और क्या होगी कि, (1) मुस्लिम समाज में स्त्रियों की संख्या पुरुषों की संख्या से 'चार गुना' ज़्यादा है; और (2) हर व्यक्ति चार-चार पत्नियों की व्यक्तिगत आवश्यकताएं व मांगें तथा उनके भरण-पोषण की ज़िम्मेदारियां, सामान्यतः पूरी करने की अवस्था में रहता है।

यह बात भी एक 'सफ़ेद झूठ' है कि मुस्लिम व ग़ैर-मुस्लिम बच्चों की जनसंख्या-वृद्धि का अनुपात 4:1 है। जनसांख्यकी (Demography) के आंकड़े बताते हैं कि गत साठ वर्षों में मुस्लिम जनसंख्या देश की कुल जनसंख्या का 10-13 प्रतिशत रही है। उधर पिछले लगभग 30 वर्षों से कुछ 'विशेष' मानसिकता के साथ 'समाजशास्त्री' बार-बार यह आशय प्रस्तुत कर-करके देशवासियों को भयभीत करते रहे हैं कि 'बस अगले बीस-तीस वर्षों में ही मुस्लिम जनसंख्या, ग़ैर-मुस्लिमों के बराबर हो जाएगी और मुसलमान फिर से सत्ता हथिया लेंगे।'

कोइ भी समझदार व्यक्ति यह बात मानने के लिए तैयार न होगा कि 25 मुसलमान 100 स्त्रियों से शादी करके 500 संतान पैदा करेंगे। इसलिए हम पांच हमारे 25 का आक्षेप मुसलमानों पर किसी तरह भी उचित न होगा। एक मुस्लिम पुरुष 4 स्त्रियों से शादी की हो, ऐसी कोई भी मिसाल नहीं मिल सकती। यह बड़ी हास्यास्पद और छिछोरी बात है कि भारत के सारे मुसलमानों से 20-20 संतान होने की संभावना हो और इस असंभव कल्पना के आधार पर आंकड़े गढ़े जाएं और इन काल्पनिक आंकड़ों के द्वारा देशवासियों को मुस्लिम बहुसंख्या से डराया जाए।

❖❖

परदा—नारी जाति के प्रति अत्याचार?

"सृष्टि में फैला हुआ सौंदर्य मानव-जाति के आनन्द और मनोरंजन का साधन है। यह बात स्त्री-सौंदर्य पर भी लागू होती है। लेकिन इस्लाम सृष्टि के इस अद्भुत व आकर्षक सौंदर्य को कपड़ों में लपेट कर मानव-प्रकृति पर अन्याय तथा नारी-सौंदर्य के प्रदर्शन पर पहरा बैठा कर सभ्यता-संस्कृति तथा स्वयं नारी जाति पर अत्याचार करता है; साथ ही स्त्री-पुरुष समानता का विरोधी बनकर नारी-अधिकार का हनन करता है, तथा प्रगति व उन्नति में औरतों को भाग लेने से रोकता है। ऐसा क्यों है?"

हया (लज्जा)—मानव-प्रकृति

छः सात साल की उम्र तक पहुंचकर, बच्चे-बच्चियों में, किसी बाह्य कारक (जैसे माता-पिता द्वारा बताए जाने, उपदेश देने, शिक्षा-दीक्षा देने, समझाने-बुझाने आदि) के बिना ही अपने शरीर-अंग छिपाने की प्रवृत्ति नज़र आने लगती है। यह वास्तव में वह हया की प्रवृत्ति है जिसे स्त्री व पुरुष में उत्पन्न करने तथा बढ़ाने का कार्य स्वयं प्रकृति द्वारा (इस्लामी विचारधारा के अनुसार, स्वयं, मनुष्य के रचयिता अल्लाह ईश्वर द्वारा) संपन्न किया जाता है। यह प्रवृत्ति मनुष्य के सिवाय अन्य किसी प्राणी में नहीं होती। हया व लज्जा का यह व्यापक व प्राकृतिक (Universal and Natural) प्रावधान मनुष्य के लिए विशेष रूप से सिर्फ़ इसलिए है कि उसके (स्त्री तथा पुरुष के) पास शील (Chastity) की एक ऐसी क़ीमती दौलत होती है जो अन्य किसी प्राणी के पास नहीं होती। उस दौलत की हिफ़ाज़त के लिए ही मनुष्य को हया की प्रवृत्ति प्रदान की गई है। कुछ कारणों से (जिनमें प्रमुख कारण, (क़ुरआन—24:21, 7:20—के अनुसार) शैतान की ओर से 'उकसाहट' है) यह प्रवृत्ति जितनी-जितनी कमज़ोर, विकृत व प्रदूषित होती है, मनुष्य का...विशेषतः स्त्री का...शील उतनी-उतनी ही तबाही व बरबादी से दो-चार होने लगता है। यह दिन-प्रतिदिन का अनुभव है।

यह हक़ीक़त सहज रूप से सर्वविदित है कि स्त्री में, पुरुष की तुलना में हया का तत्व ज़्यादा होता है। किशोरावस्था से ही यह फ़र्क़ साफ़ नज़र आने लगता है, जब एक किशोरी के हाव-भाव, शरीर को छिपाने का अन्दाज़, शर्मीलापन और ज़नाना अदाएं स्पष्ट रूप से लड़कों से भिन्न और प्रबल दिखने लगती हैं। इस अन्तर के पीछे यह तथ्य स्वचालित रूप से कार्यान्वित रहता है कि औरत का शील मर्द की तुलना में ज़्यादा मूल्यवान भी होता है और पानी के बुलबुले के समान अत्यंत सूक्ष्मग्राही (Sensitive) और नाज़ुक (Fragile) भी।

नाज़ुक चीज़ों के बारे में सचेत कराया जाता है कि इन्हें "एहतियात के साथ बरतें (Fragile–Handle with Care!)।" इस्लाम ने परदे के ज़रिए से स्त्री की हया की हिफ़ाज़त का, तथा हया की हिफ़ाज़त के ज़रिए से उसके शील की हिफ़ाज़त का जो पुख़्ता इन्तज़ाम किया है यह वही 'एहतियात से बरतना' है (क़ुरआन, 24:30-31)। अतः यह एक ठोस हक़ीक़त है कि जो औरतें जितना ज़्यादा परदा करती (देह-प्रदर्शन से रुकती) हैं वे उतनी ही शीलवान होती हैं; और मुस्लिम समाज में यह अनुपात अन्य सारे समाजों से बहुत अधिक होता है। यदि हमारे देश की सारी औरतें 'इस्लामी ड्रेस कोड' इख़्तियार कर लेने की ठान लें (और शैतान की उकसाहटों से प्रभावित न होने का आत्मबल पैदा कर लें) तो बिना किसी द्विविधा के यह बात कही जा सकती है कि उनके प्रति, जो करोड़ों की संख्या में विभिन्न प्रकार के यौन-अत्याचार, शोषण और यौन-अपराध की घटनाएं/दुर्घटनाएं हर साल घटित होती हैं उनका स्तर कमोबेश 95 प्रतिशत तक नीचे गिर जाएगा। और नारी-गरिमा की हिफ़ाज़त यक़ीनी होने के साथ समाज की नैतिक व्यवस्था तथा राष्ट्रों की क़ानून-न्याय व्यवस्था को अनेकानेक संकटों व समस्याओं से मुक्ति मिल जाएगी।

परदा—इस्लाम का पक्ष

इस्लाम मनुष्य की बुद्धि और चेतना को अपील करते हुए, हर मामले, हर मुद्दे (Issue) पर निष्ठापूर्वक ग़ौर और चिंतन की दअवत देता है। इस्लाम की एक विशेषता और विशिष्टता यह भी है कि वह जीवन के किसी भी पहलू, किसी भी क्षेत्र में व्यक्ति, समाज, और सभ्यता (Civilisation) तथा संस्कृति

(Culture) को मात्र विवेक, अन्तरात्मा और चेतन शक्ति पर ही आधारित व आश्रित नहीं रहने देता, या उसकी शिक्षाएं मात्र 'उपदेश' तक सीमित नहीं रहतीं, बल्कि वह जीवन-संबंधी हर मामले में नियम, क़ानून और आदेश (Commandments) भी देता है। क्योंकि विभिन्न आन्तरिक एवं बाह्य कारणों व कारकों के निरंतर सक्रिय रहने से प्रायः मानवीय मूल प्रवृत्ति में विकार व बिगाड़ आ जाता है जिसके प्रभाव व प्रबलता से मनुष्य अपनी मूल प्रकृति से हट जाता, अन्तरात्मा की आवाज़ की अवहेलना करने लगता तथा अंततः मानव प्रकृति के स्वाभाविक तक़ाज़ों व अपेक्षाओं से बग़ावत कर गुज़रता है। स्त्रियों का वस्त्रहीन होकर देह-प्रदर्शन करना, तथा उन्हें देह-प्रदर्शन के लिए अर्धनग्न, पूर्ण नग्न व अश्लील मुद्रा में लाए जाने पर पुरुषों द्वारा उकसाया जाना, वरग़लाया जाना, प्रकृति से इसी बग़ावत का प्रतीक है।

परदा पर इस्लाम का पक्ष विचाराधीन लाने से पहले, यह एक सामान्य स्थिति सामने रहे तो अच्छा है कि उन औरतों को छोड़कर जो वस्त्रहीन होकर नाइट क्लबों और डिस्कॉथेक्स में नाचती हैं, या लगभग नग्न होकर सौंदर्य-प्रतियोगिताओं और रैम्प पर कैटवाक के 'फैशन शो' में भाग लेती हैं, या ब्लूफ़िल्मों में अपना यौन-क्रियारत शरीर दिखाती हैं; एक सामान्य स्त्री—चाहे वह किसी भी धर्म की अनुयायी हो—आमतौर पर अपना शरीर ढककर रखती है। जितना-जितना उसकी मूल-प्रवृति शुद्ध व सजग रहती है उतना-उतना ही उसका वस्त्र सभ्य, ढीला व पूर्ण होता है। परिवार के पुरुषजन भी जिस मात्रा में अपनी मर्यादा तथा अपनी स्त्रियों की मर्यादा, सतीत्व, नैतिकता, चरित्र एवं शील के प्रति संवेदनशील होते हैं उसी अनुपात में अपनी पत्नियों, बेटियों, बहनों को ढीले, पूर्ण और सभ्य (Modest) लिबास पहनाते हैं। कौन नहीं जानता कि औरत के शील और इज़्ज़त-आबरू की हिफ़ाज़त के जो अनेक प्रावधान हैं उनमें से उनका सभ्य व पूर्ण लिबास प्रमुख है। यही लिबास इस्लामी (मुस्लिम) सभ्यता में 'परदा' कहलाता है। भारत की एक प्रमुख, प्रसिद्ध, उच्च स्तरीय मलयालम साहित्यकार महिला सुश्री कमला दास ने इस्लाम में इसी परदा-प्रणाली की अनिवार्यता से प्रभावित होकर इस्लाम स्वीकार किया था। तमिलनाडु की यह महिला (कमला सुरैया), इस्लामी परदा को नारी-शील का 'सुरक्षा-कवच' कहती थीं।

परदा की इस्लामी हिकमत

इस्लाम जब परदे का क़ानून बनाता तथा उस पर अमल को अनिवार्य बनाने का आदेश (हुक्म) देता है, तो उसकी हिकमत भी बताता है। क़ुरआन मुस्लिम स्त्रियों को परदा करने का आदेश देने के साथ ही इसकी हिकमत यह बताता है : "ताकि वे पहचान ली जाएं और सताई न जाएं (33:59)।" इस बज़ाहिर छोटी-सी साधारण सी बात में, वस्तुतः हिकमत (तत्वदर्शिता, Wisdom) की एक दुनिया समाई हुई है।

'पहचान ली जाएं' का भावार्थ यह है कि समाज के ग़लत व चरित्रहीन लोग समझ लें कि ये शरीफ़ व सुशील औरतें हैं। इन से किसी अनैतिक यौन-अग्रसरता (Sexual Advancement), और सहयोग (Co-operation) की आशा तो दूर की बात कल्पना भी नहीं की जा सकती। 'और सताई न जाएं' का भावार्थ यह है कि बहुत चुस्त लिबास, पारदर्शी लिबास, अभद्र लिबास, अश्लील, अर्धनग्न व भड़काऊ (Provocative) लिबास पहनने वाली स्त्रियों तथा यौनाकर्षण (Sex appeal) के जलवे बिखेरने वाली नारियों व युवतियों को देखकर युवकों व पुरुषों में (उनके मन-मस्तिष्क, शरीर और भावनाओं में) यौन-उत्तेजना की जो आग भड़क उठती है, और फिर छेड़छाड़ (Eve-teasing), शारीरिक छेड़ख़ानी (Molestation), अपहरण (Abduction), बलात्कार (Rape), सामूहिक बलात् दुष्कर्म (Gang rape), बलात्कार-पश्चात हत्या तथा अनेकानेक अपराधों के शोलों में स्त्री की मर्यादा, तथा उसका नारित्व भभक-भभक कर जलने लगता है, उस पूरी दुखद, शर्मनाक व दर्दनाक परिस्थिति से परदानशीन औरत बच जाए, बची रहे, अर्थात पीड़ित न हो, सताई न जाए, अपमानित व शोषित न हो।

प्रगति, विकास, उन्नति में 'परदा' अवरोध है?

परदा का विरोध करने वालों का दूसरा 'तर्क' यही है कि परदे वाली औरत घर की चारदीवारी में क़ैद, चूल्हा-चक्की में फंसी, बच्चे पैदा करने वाली मशीन बनी, देश और राष्ट्र की प्रगति में 'सक्रिय' भूमिका निभाने तथा चहुमुखी विकास में अपना यथार्थ योगदान देने के अवसरों से वंचित रह जाती हैं और यह इस्लाम का बहुत बड़ा दोष, बड़ा भारी दुर्गुण है। इस, बड़े 'शक्तिशाली' और 'तर्कपूर्ण' आरोप का संक्षिप्त, और सीधा जवाब इस्लाम की ओर से यह

है : "ऐसी प्रगति, ऐसा विकास, ऐसी उन्नति, ऐसी सम्पन्नता (Affluance) जो स्त्री के शील, शर्म, गौरव-गरिमा और नारित्व को दांव पर लगाकर, ख़तरों में डालकर, लूटकर, लुटाकर, रौंदकर प्राप्त की जाए; तो चाहे उसमें भौतिक चमक व चकाचौंध जितनी भी हो, वह अवनति है, घाटे का सौदा है। वह नारी-अधिकार का नहीं, नारी-शोषण तथा नारी के अधिकार-हनन का द्योतक है।"

परदा शिक्षा-प्राप्ति और ज्ञान-अर्जन में अवरोधक नहीं, कम्प्यूटर सीखने व इस्तेमाल करने में अवरोधक नहीं है। अध्यापिका और चिकित्सक बनने में अवरोधक नहीं है। उस उन्नति व प्रगति में अवरोधक नहीं है, जो उससे उसकी हया तथा उसके नारित्व व शील की क़ीमत वसूल न करे।

प्रगति में बेपरदा औरत का 'योगदान'–दर्पण बोलता है...

इस्लाम की दृष्टि में वास्तविक एवं वांछनीय प्रगति वह है जिसमें भौतिकता के साथ आध्यात्मिकता व नैतिकता का समावेश हो। सभ्यता व संस्कृति में मानवीय मूल्यों की सम्पूर्ण भूमिका, तथा ज्ञान-विज्ञान व तकनॉलोजी की भूमिका में संतुलित सामंजस्य व समन्वय, मानव-जाति की उन्नति व प्रगति का आधार होना चाहिए। इस पूरे प्रक्रम में नारी जाति से संबंधित नैतिक मूल्यों को विशेष महत्व दिया गया है। इस विषय में यह एक सर्वविदित सत्य है कि स्त्री का शरीर जितना-जितना बेपरदा होकर सार्वजनिक प्रदर्शन हेतु, खुले व स्वच्छंद समाज के समक्ष पेश किया जाता है, उतना-उतना ही उसके नैतिक मूल्यों का ह्रास, दमन व शोषण होता है।

एक शोध पुस्तक 'वीमेन इन अ चेन्जिंग सोसाइटी' (प्रकाशित 1993) की प्रबुद्ध लेखिका, पुस्तक के प्राक्कथन में लिखती हैं : "भारत में (मुस्लिम...) शासन के आते ही परदे की परम्परा शुरू हुई और औरतें घर की चारदीवारी में बन्द हो गईं। उनकी शिक्षा को आघात पहुंचा और बाहर की दुनिया में उनकी भूमिका बहुत कम रह गई।"

विद्वान लेखिका ने पुस्तक में यह तो कहीं नहीं लिखा कि मुस्लिम शासनकाल में प्रतिवर्ष 'बाहर की दुनिया' में (कार्य-स्थल पर) मुस्लिम औरतों के यौन-शोषण, और बलात्कार के आंकड़े क्या हैं? व्यभिचार की धूम कितनी थी? छेड़छाड़ व शारीरिक छेड़ख़ानी (Molestation) की घटनाएं कितनी होती थीं? सामूहिक बलात्कार (Gang rape) कितने होते थे। स्त्रियों व युवतियों के

अपहरण व बलात्कार तथा यौन-अपराधीय हत्या के आंकड़े क्या हैं? इसका कारण इस के सिवाय और कुछ समझ में नहीं आता कि औरतों की ऐसी दुर्दशा मुस्लिम शासनकाल में बिल्कुल हुई ही नहीं (और न ही बाद के वर्षों से लेकर आज तक ...आज भी...मुस्लिम समाज ने अपने अन्दर नारी- दुर्दशा के ऐसा घिनावने शर्मनाक आँकड़े पलने-बढ़ने का अवसर दिया)। और चूँकि इस का श्रेय (Credit) इस्लाम को तथा उस की परदा-व्यवस्था को जाता है, और प्रबुद्ध लेखिका को यह श्रेय इस्लाम को देने में शायद मुश्किल और उलझन का सामना हुआ हो, अतः परदा-प्रथा और घर की चारदीवारी के फ़ायदों और ज़िन्दा चमत्कार को वह स्वीकार करने का साहस जुटा न पाई हों इसलिए 'परदा' और 'चारदीवारी' पर एक संक्षिप्त लेकिन बड़ी नकारात्मक तथा इस्लाम की सामाजिक-नैतिक व्यवस्था पर अपमानजनक टिप्पणी लिखने पर ही बस कर दिया। अलबत्ता उन्होंने आधुनिक भारत की (घर की चहारदीवारी की क़ैद से आज़ाद होकर 'बाहर की दुनिया' में भूमिका निभाने वाली) औरत से संबंधित 1988, 1989, 1990 के, ऐसी कुछ-एक घटनाओं के आंकड़े (पृष्ठ 148 पर) उल्लिखित करके, दर्पण सामने रखकर उसे स्वयं बोलने का अवसर अवश्य प्रदान किया है। (इस आवाज़ में परदा से संबंधित इस्लामी नीति और इस्लाम का, मानव-समाज तथा नारी-जाति के नाम (परोक्ष रूप से) संदेश भी निहित है। प्रबुद्ध लेखिका लिखती हैं :

> **''आज, बलात्कार से संबंधित आंकड़े एक दुखद परिस्थिति का रहस्योद्घाटन करते हैं। अनुमान है कि भारत में प्रतिदिन 33 स्त्रियों के साथ बलात् कर्म होता है। हमारे देश में वार्षिक 20,000 बलात्कार के मामले होते हैं।...हिन्दी बेल्ट (यू॰पी॰, बिहार, एम॰पी॰, राज॰ आदि) में 1988 में 26,389; 1989 में 30,320; 1990 में 31,014 घटनाएं नारी के प्रति अपराध की घटीं। ग़ैर-हिन्दी बेल्ट में यह आंकड़े क्रमशः 22,224; 23,853; 23,853 हैं।...वैसे ताज़ा स्थिति बताती है कि पश्चिम बंगाल, त्रिपुरा और उड़ीसा जैसे 'सुरक्षित' प्रांत, बलात्कार की बड़ी संख्या दर्ज कराते हैं...'मैरी स्टोप्स, दिल्ली' के अनुसार हर वर्ष 2,00,00,000 (दो करोड़) औरतों व लड़कियों के साथ भारत में बलात्कार होता है और 20 में से केवल एक मामले की एफ॰आई॰आर॰ दर्ज होती है।''**

''प्रगति में नारी-योगदान'' के 'सुखद' सफ़र के वर्षों बाद उपरोक्त आंकड़ों में अब कितनी वृद्धि हो चुकी, इसका अनुमान लगाना कुछ कठिन नहीं; वैसे 'नेशनल क्राइम रिकॉर्ड ब्यूरो' और अनेक दूसरे संस्थानों द्वारा वर्ष-प्रति वर्ष प्रस्तुत आंकड़े बेपरदगी, अश्लीलता तथा परदा-विरोधी यौन-स्वच्छंदता के दुष्परिणाम अर्थात नारी-दुर्दशा, अपमान व शोषण की तस्वीरें पेश करते रहते हैं। जागरूक मस्तिष्क और संवेदनशील हृदय हो तो ये तथ्य परदा के बारे में इस्लाम पर उठने वाले प्रश्नों का उत्तर स्वतः दे देते तथा आरोपों, आक्षेपों, भ्रांतियों व ग़लतफ़हमियों का निवारण स्वतः कर देते हैं।

चेहरे का परदा

इस तथ्य से इन्कार संभव नहीं है कि चाहे व्यभिचार व बलात्कार हो, चाहे युवतियों व स्त्रियों के साथ छेड़खानी (Eve-teasing/Molestation) या उनका अपहरण तथा उनसे दुष्कर्म, इन दुर्घटनाओं व कुकृत्यों का आरंभ-बिन्दु उनका 'चेहरा' है। चेहरा ही इन सबका 'प्रवेश-द्वार' है। और यदि मेक-अप द्वारा पराए मर्दों की कामोत्तेजना भड़काने और उन्हें प्रलोभित करने के लिए चेहरे को आकर्षक (Sex appealing) बनाया जाए तो मानों उस प्रवेश-द्वार के पट खोल दिए गए, नारी के शील को ख़तरों के तूफ़ान के हवाले कर दिया गया।

इस्लाम ने औरत के बहुमूल्य नारित्व व शील को सुरक्षित रखने के लिए आदेश दिया कि वह सामान्य स्थिति में (घर से बाहर निकले तो) अपने शरीर के साथ-साथ, अपना चेहरा भी छिपा कर रखे (कुरआन, 33:59) तथा असामान्य स्थिति में, जब अनिवार्य हो जाए तभी चेहरा अजनबी पुरुषों के सामने खोले। लेकिन यहां भी इस्लाम औरत को पूरी एहतियात बरतने (Precautionary and preventive measure) का हुक्म देता है कि औरत, मेक-अप और साज-सज्जा द्वारा (केवल अपने पति को छोड़कर) किसी भी अन्य पुरुष के लिए आकर्षक तथा यौनोत्तेजक बनकर, चेहरा खोलकर घर से बाहर न निकले। यह उद्देश्य उस प्रकार के वस्त्र से भली-भांति पूरा हो जाता है जिसे 'बुरक़अ' या 'निक़ाब' या 'हिजाब' कहा जाता है। औरत के बालों में भी मर्दों के लिए यौनाकर्षण का होना सर्वविदित है इसलिए आदेश दिया गया कि चेहरा खोलना ज़रूरी हो जाए तो सिर के बाल अनिवार्यतः ढके रहने चाहिएं। अतः कुछ महिलाएं शरीर को ढककर चेहरा खुला रखती हैं तो सिर को दुपट्टा (जो पारदर्शी न हो) से, या 'स्कार्फ़' से ढकती अवश्य हैं।

❖❖

'जिहाद'–हत्या, उपद्रव, आतंक?

''जिहाद हत्या, नरसंहार, रक्तपात, अशान्ति, अन्याय, अपराध तथा आतंक का नाम है। 'जिहादी' व्यक्ति एक क्रूर, निर्दयी एवं रक्तपाती व्यक्ति बन जाता है। जिहाद, मानव-अधिकार और विश्व-शान्ति का 'शत्रु नं॰ एक' है।''
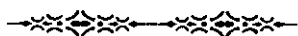
जिहाद उन अनेक विषयों में से एक प्रमुख व प्रज्वलंत विषय है जिन्हें इस्लाम के अपने सूत्रों तथा विश्वसनीय माध्यमों से समझने के बजाय इस्लाम-विरक्त, इस्लाम-विरोधी व इस्लाम-दुश्मन सूत्रों व माध्यमों से समझने का प्रयास किया जाता रहा है। अतः ऐसी अनुचित व असैद्धांतिक प्रक्रिया के परिणामस्वरूप 'इस्लाम में जिहाद' की जो कुछ भी, जैसी कुछ भी, जितनी भी ग़लत, त्रुटिपूर्ण तथा भयावह व घृणाजनक तस्वीरें बनीं, उन्हें विशाल, सशक्त व व्यापक मीडिया-तंत्र द्वारा विश्व के लगभग हर व्यक्ति के समक्ष 'वास्तविक तस्वीरें' बनाकर पेश किया जाता रहा है। परिणामस्वरूप अज्ञानता, ग़लतफ़हमियों और घृणा व भय की गन्दी ज़मीन पर उपरोक्त आक्षेपों के कटीले व ज़हरीले झाड़-झंकाड़ हर ओर उगे और 'लहलहाते' नज़र आ रहे हैं। किसी भी चीज़ या बात को उसकी वास्तविकता के साथ समझने का उचित माध्यम, मीडिया या राजनीतिज्ञों के बयानात नहीं हुआ करते, बल्कि स्वयं उसी चीज़ या वस्तु से मूलरूप से संबंधित विश्वसनीय सूत्र (Authentic sources) होते हैं।

जिहाद का अर्थ

अरबी शब्द 'जिहाद' जिन मूल-अक्षरों 'ज-ह-द' से बना है उनसे बनने वाले शब्द (जो क़ुरआन में कुल 17 हैं और 19 अध्यायों (सूरा) में 41 बार प्रयुक्त हुए हैं) सत्य-मार्ग में अवरोधक तथा सत्य-कार्य के प्रतिकूल परिस्थितियों के मुक़ाबले में घोर परिश्रम, संघर्ष, प्रयत्न, प्रयास के अर्थ रखते हैं। जिस 'जिहाद' पर आपत्ति जताई जाती है वह जिहाद (प्रयास, प्रयत्न, संघर्ष) के विभिन्न स्तरों तथा चरणों (Phases) में ऐसा अंतिम व अतिशय चरण और शिखर-बिन्दु है जहां ''सशस्त्र संघर्ष'' अनिवार्य (Inevitable) हो जाता है।

ऐसे 'जिहाद' (क़िताल अर्थात् 'युद्ध') पर कुरआन के मुस्लिम विद्वान भाष्यकारों (मुफ़स्सिरीन) ने बहुत विस्तार से लिखा है तथा इस विषय पर विभिन्न भारतीय व विदेशीय भाषाओं में पर्याप्त साहित्य भी उपलब्ध है। उपरोक्त शंकाओं, भ्रांतियों तथा आक्षेपों के तथ्यपरक तथा वास्तविक उत्तर व निवारण के लिए इस साहित्य का अध्ययन–सत्यनिष्ठ अध्ययन–करना चाहिए। यहां संक्षेप में और कम से कम शब्दों में यदि जिहाद की वास्तविकता बयान की जाए तो वह कुछ यूं होगी।

जिहाद की संक्षिप्ततम् व्याख्या

अन्याय, अत्याचार व शोषण करने वाली शक्तियां, रक्तपात, नरसंहार करने व तबाही, बरबादी फैलाने वाली शक्तियां, कमज़ोरों पर ज़ुल्म ढाने वाली, उन्हें उनकी बस्तियों, आबादियों, घरों से निकाल देने या निकलने पर विवश कर देने वाली शक्तियां, ये सारे कुकृत्य 'सशस्त्र' होकर करें, तो मुस्लिम समुदाय और मुस्लिम शासन का कर्तव्य है कि सशस्त्र होकर ज़ुल्म का मुक़ाबिला किया जाए, अपनी रक्षा (Defense) की जाए, ज़ालिम की अत्याचार-शक्ति-सामर्थ्य को कमज़ोर करके, तोड़कर अत्याचार व शोषण का उन्मूलन किया जाए। सत्य व ईशपरायणता तथा न्याय व शान्ति के दुश्मनों को परास्त किया जाए। न्याय व शान्ति की स्थापना की जाए। उस सत्य मार्ग, अर्थात् शाश्वत ईश्वरीय मार्ग को प्रशस्त किया जाए जिस पर चलकर मानव-समाज और मानवजाति इहलौकिक व पारलौकिक सुख-समृद्धि- सफलता से आलिंगित होना सहज, सरल व संभव पा सके। इस सशस्त्र संघर्ष में स्वयं अत्याचार व अन्याय करने से पूरी तरह रुका जाए। ईश्वरीय आदेशों, नियमों, शिक्षाओं और सीमाओं का पालन किया जाए।

यह इस्लामी जिहाद की संक्षिप्ततम् व्याख्या है। ऐसा 'जिहाद' किन्हीं भी (अलग-अलग) नामों से मानवजाति के दीर्घ इतिहास में हमेशा से होता आया है। सारे इन्सानों ने सशस्त्र ज़ुल्म व अत्याचार के सामने घुटने टेक दिए हों, ऐसा मानव इतिहास में कभी नहीं हुआ है, क्योंकि ऐसा होना उस मूल प्रकृति के प्रतिकूल है जिस पर मनुष्य की संरचना हुई है। अगर ऐसा जिहाद न हो तो पृथ्वी ज़ुल्म से भर जाए। अलबत्ता इस्लाम ने इतिहास में पहली बार यह

श्रेय प्राप्त किया है कि उसने जिहाद के नियम और आदेश नैतिक व वैधानिक (क़ानूनी), दोनों स्तरों पर पूरी तरह से निश्चित (Codified) कर दिए हैं, और इस बात को यक़ीनी व अवश्यंभावी बनाया है कि ज़ुल्म के प्रतिरोध में ख़ुद ज़ुल्म हरगिज़ न होने पाए। प्रतिशोध-भावना ऐसी प्रबल हरगिज़ न होने पाए कि न्याय, दयाशीलता और इन्सानियत का दामन हाथ से छूट जाए।

(क़ुरआन, 5:8)

जिहाद—आतंक?

जहां तक जिहाद के आतंकवाद होने का प्रश्न है, इस्लाम के पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) तथा उनके अनुयायी, सत्य-धर्म के आह्वान के साथ ही मक्कावासी विधर्मियों के क्रूर आतंकवाद से, 23 वर्ष तक जूझते तथा स्वामी लक्ष्मीशंकराचार्य के अनुसार *(पुस्तक 'इस्लाम आतंक या आदर्श'-2008)*, 23 वर्षों तक आतंकवाद के विरुद्ध लड़ते रहे। (यहां तक कि नगर 'मक्का' और निकटवर्ती क्षेत्रों से ज़ुल्म व आतंक का सफ़ाया हो गया)।

इस्लाम में 'जिहाद' दरअस्ल आतंक को ख़त्म करने, आतंकवाद को पस्त व परास्त करने का एक 'ईश्वरीय-मार्गदर्शित' प्रक्रम है। इस प्रक्रम में अत्याचारी-शक्तियां यदि आतंकित होती हैं अतः जिहाद को आतंकवाद की संज्ञा देती हैं तो यह बात समझ में आती है, वरना स्वयं जिहाद का आतंकवाद कहा जाना घोर मिथक है। किसी पाश्चात्य विद्वान-विचारक के ये शब्द, वस्तुस्थिति को उसके वस्तुनिष्ठ रूप में पेश करते हैं :

"Terrorism of the poweful is called war, and
war of the weak is called terrorism."

(शक्तिशाली का आतंकवाद युद्ध कहलाता है और निर्बल का युद्ध, आतंकवाद)

बुद्धिमानी और सत्यप्रियता, इन्सानियत के मौलिक और अति मूल्यवान गुण हैं। इन गुणों का तक़ाज़ा यह है कि "जिहाद" को राजनीतिज्ञों और मीडिया के माध्यम से जानने-समझने के बजाय, स्वयं इस्लाम के विश्वसनीय स्रोतों, इस्लामी इतिहास तथा इस्लामी विद्वानों के माध्यम से समझने का प्रयास किया जाए, फिर कोई राय बनाई जाए।

❖❖

'काफ़िर'–मज़हबी गाली, अपमानजनक शब्द?

"कुरआन में 'काफ़िर' शब्द हिन्दुओं के लिए अपमानजनक और गाली समान प्रयुक्त हुआ है। कहा गया है कि इन्हें मारो-काटो। अतः इससे भारतीय समाज में नफ़रत, दुश्मनी, असहिष्णुता की स्थिति पैदा होती है।"
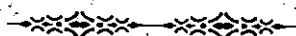
वास्तव में यदि ऐसा ही होता जैसा कि सन्देह या आपत्ति जताई जाती है तो विश्व के और प्रमुखतः भारत के अनेक ग़ैर-मुस्लिम विचारकों, विद्वानों और इतिहासकारों ने इस्लाम के बारे में उपरोक्त आपत्ति के विरुद्ध सैकड़ों हज़ारों पृष्ठ लिख न दिए होते। यह आरोप व आक्षेप अधिकतर नाजानकारी और कुछ हद तक ग़लत जानकारी या दुष्प्रचार की वजह से है।

शब्द 'काफ़िर' का अर्थ :

काफ़िर शब्द तीन अरबी मूल अक्षरों 'क-फ़-र' से बना है। कुरआन में इस मूल से बने 54 शब्दों में से 51 शब्द [जो 74 अध्यायों (सूरा) की 479 आयतों में 521 बार आए हैं], निम्नलिखित भाव में प्रयुक्त हैं। इन सारे शब्दों का मूल शब्द 'कुफ़्र' है; काफ़िर का अर्थ है 'कुफ़्र करने वाला'।

कुफ़्र के कई अर्थ हैं। उदाहरण के रूप में इन्कार करना, छिपा लेना, हटा देना, दूर कर देना, प्रतिकूल कार्य करना, दबा देना, मिटा देना, अवहेलना करना, छोड़ देना आदि। (किसान के, ज़मीन में बीज दबा देने के लिए भी अरबी में 'कुफ़्र' शब्द प्रयुक्त होता है)।

पारिभाषिक अर्थ :

इस्लाम (और कुरआन) की पारिभाषिक शब्दावली में 'कुफ़्र' शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। जैसे : इस्लाम की वास्तविकता समझ लेने के बाद उस पर ईमान लाने के बजाय, इस्लाम का इन्कार कर देना, मन-मस्तिष्क पर

'सत्य' स्पष्ट हो जाने के बाद भी उसे छिपा लेना, दबा देना, तिरस्कृत कर देना। यह शब्द स्वयं मुसलमानों के भेष में, कपटाचारियों (Hypocrites, मुनाफ़िक़ों) के उस कृत के लिए भी प्रयुक्त हुआ है जो इस्लाम की कुछ बातों पर अमल करने और कुछ को छोड़ देने, अल्लाह की आंशिक या पूर्ण अवज्ञा (नाफ़रमानी), ऊपर से ईमान लेकिन अन्दर से ईमान के विरोध आदि के रूप में किया जाए। इस्लाम के पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) जो ईश-ग्रंथ कुरआन के वाहक हैं, ने स्वयं मुसलमानों के लिए कहा : "जिसने जान-बूझकर नमाज़ छोड़ दी उसने कुफ़्र किया।" कुरआन की छः आयतों (8:29, 39:35, 48:5, 64:9, 65:5, 66:8) में अल्लाह ने स्वयं अपने लिए यह शब्द प्रयोग किया है; "...तो अल्लाह तुम से तुम्हारी बुराइयों, गुनाहों को **दूर कर देगा**।" एक आयत (2:271) में फ़रमाया, "...इससे तुम्हारी बुराइयां **मिट जाती** हैं।"

उपरोक्त विवरण से यह बात पूर्णतः, निस्सन्देह स्पष्ट हो जाती है कि कुरआन में 'काफ़िर' शब्द ग़ैर-मुस्लिमों के लिए विशेष होकर उनको अपमानित करने के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ है। हिन्दुओं के लिए अपमान या गाली के तौर पर इसके प्रयुक्त न होने की साफ़ दलील यह है कि कुरआन के अवतरण काल (610-632 ई०) में 'हिन्दू' नाम से कोई क़ौम न केवल अरब में, बल्कि भारत में भी पाई ही नहीं जाती थी (यह 'हिन्दू' शब्द बाद की शताब्दियों में बना है, इतिहासकारों ने इसकी पुष्टि की है)।

फिर यह 'काफ़िर' शब्द कुरआन में किस हैसियत में आया है? दरअस्ल यह एक 'पहचान तय करने वाला शब्द' (Word of Identitification) है। यह 'ईमान लाने वाले' (मोमिन/मुस्लिम) व्यक्ति के विपरीत 'ईमान (इस्लाम) का इन्कार कर देने वाले' व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है। उदाहरणतः 'ग्रेजुएट' के विपरीत 'नान-ग्रेजुएट' का शब्द, जो निस्सन्देह पहचान (Identity) के लिए है, न कि अपमान के लिए या गाली के तौर पर।

कुरआन की नीति

'काफ़िर' के लिए कुरआन में मोटे तौर पर दो क़िस्म की बातें आई हैं। एक : इस जीवन (वर्तमान इहलौकिक जीवन) के लिए। दो : मृत्युपश्चात (पारलौकिक) जीवन के लिए। चूंकि कुरआन (अर्थात् इस्लाम) का सामान्य नियम है कि हर मनुष्य को यह अधिकार प्राप्त है कि वह ईमान (इस्लाम) को

चाहे तो स्वीकार कर ले चाहे अस्वीकार कर दे, 'दीन' (इस्लाम धर्म) में ज़ोर-ज़बरदस्ती नहीं है (2:256), इसलिए काफ़िर के प्रति न्याय, सत्यनिष्ठा, मानवीय मूल्यों तथा पूरे इन्साफ़ व मानवाधिकार के तक़ाज़ों के अनुकूल व्यवहार किया जाएगा। 'काफ़िरों' के बारे में क़ुरआन में जो भी बातें पकड़ने, मारने, क़त्ल करने की आई हैं उन्हें पूरे संदर्भ (Context) के साथ पढ़ा जाए तो मालूम होगा कि यह युद्ध से संबंधित आदेश थे। मुसलमानों (और पैग़म्बर मुहम्मद सल्ल०) को मक्का के काफ़िरों ने 13 वर्ष तक सताया था, प्रताड़ित व अपमानित किया था, दो बार मुसलमानों को मक्का छोड़कर हब्शा (इथोपिया) प्रवास पर मजबूर किया था। पूर्ण सामाजिक बहिष्कार (Social bycot) करके नगर से बाहर एक घाटी में तीन वर्ष तक जीवन-सामग्री से इस तरह वंचित रहकर जीने पर मजबूर कर दिया था कि घास खाने और सूखा चमड़ा उबाल कर उसका पानी पीने की स्थिति आ गई थी। बच्चे भूख-प्यास से रूदन करते, बिलखते थे। एकेश्वरवादी धर्म के अनुयायी होने के "जुर्म" में पूरी मुस्लिम आबादी को इस हद तक प्रताड़ित करने से भी जी न भरा तो उसे मक्का (जन्म-भूमि), अपना नगर, अपना घर-बार, सामग्री, आजीविका यहां तक कि बीवी-बच्चे, माता-पिता, परिवार भी) छोड़कर 450 किलोमीटर दूर मदीना नगर के प्रवास (हिजरत, Migration) पर विवश कर दिया था। इसके बाद भी अपनी फ़ौजें और संयुक्त सेनाएं (अहज़ाब Allied Armies) लेकर मुसलमानों पर बार-बार चढ़ आते थे, और पूरे अरब प्रायद्वीप में जगह-जगह इस्लाम और मुसलमानों का अरब से सर्वनाश कर देने के लिए हमलों की तैयारियां जारी रहती थीं। तब जाकर अल्लाह ने मुसलमानों को इजाज़त दी कि इन से युद्ध करो, ज़हां पाओ...पकड़ो, क़त्ल करो। यह ऐसे काम की इजाज़त या आज्ञा (आदेश) थी जो मानवजाति के पूरे इतिहास में, युद्ध-स्थिति में सदा मान्य रही है। शान्ति-स्थापना के लिए हर सभ्य समाज ने ऐसे युद्ध को मान्यता दी है। इतिहास साक्षी है कि इस्लामी शासन-काल में मुसलमानों ने जितने युद्ध लड़े, वे या तो आत्म-रक्षा के लिए थे, या अरब व आस-पास के भूखण्डों में शान्ति-स्थापना हेतु आक्रमणरोधक युद्ध (Pre-emptive war) के तौर पर लड़े गए। यथा-अवसर तथा यथा-संभव उन्होंने सदा 'सुलह' को 'युद्ध' पर प्राथमिकता दी। शान्ति-समझौतों को हमेशा वांछनीय विकल्प माना।

मृत्यु पश्चात जीवन के लिए ईश्वर ने काफ़िरों (सत्य-धर्म के इन्कारियों) के लिए क़ुरआन में अनेक स्थानों पर इन्कार के प्रतिफल-स्वरूप, नरक की चेतावनी दी है। यह बिल्कुल ईश्वर और उसके बन्दों के बीच का मामला है। और ईश्वर, जो अपने तमाम बन्दों का रचयिता, प्रभु-स्वामी, पालक-पोषक (Provider, Sustainer, रब) है वह अपने बन्दों के बारे में, (उनके कर्मानुसार) जो भी फ़ैसला परलौकिक जीवन के लिए करे, इसका उसे अधिकार है, इसमें किसी मुसलमान की कोई भूमिका (Role) नहीं, न ही किसी भी व्यक्ति का आक्षेप (Interference) संभव है।

काफ़िरों के प्रति व्यवहार

ऐसे 'काफ़िरों' के साथ, जो मुसलमानों (ईमान वालों) से लड़ते नहीं, उन्हें सताते नहीं, उन पर अत्याचार के पहाड़ नहीं तोड़ते, उन्हें उनकी आबादियों, बस्तियों, नगरों से निकालते नहीं, उनके ख़िलाफ़ युद्धरत नहीं होते, कमज़ोरों को दबा-दबाकर उनका जीना अजीरन नहीं करते; इस्लाम ने सौहार्द्र, प्रेम-व्यवहार, आदर, इन्साफ़ और शान्तिमय रूप से रहने, भले कामों और अच्छाइयों में सहयोग देने, सहयोग लेने, शान्ति-संधि समझौता करने तथा ठीक मुसलमानों ही की तरह उनके मानव-अधिकार देने तथा उनके अधिकारों की रक्षा करने की शिक्षा व आदेश दिया है।

निष्कर्ष यह है कि 'काफ़िर' शब्द एक गुणवाचक संज्ञा (Qualitative Noun) है; इसका किसी विशेष जाति, नस्ल, क़ौम, क्षेत्रवासी समूह या रंग व वर्ग से कुछ संबंध नहीं। जो भी इस्लाम का इन्कार करे वह पहचान के तौर पर 'इन्कारी' (अर्थात् कुफ़्र करने वाला) कहलाता है।

❖❖

बलात् धर्म-परिवर्तन?

"भारत में पहले मुस्लिम शासनकाल में ज़ोर-ज़बरदस्ती से मुसलमान बनाया जाता रहा। अब लालच देकर धर्म-परिवर्तन कराया जा रहा है। यह साज़िश भी है कि मुस्लिम नवयुवक हिन्दू लड़कियों से संबंध बढ़ाएं, धर्म परिवर्तन कराएं, ब्याह करें और अपनी जनसंख्या बढ़ाएं। यह परिस्थिति असह्य है, साम्प्रदायिक तनाव पैदा करती, हिंसा भड़काती है...।"
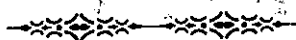
विषय-वस्तु पर, यहां तीन पहलुओं से दृष्टि डाल कर उपरोक्त शिकायत या संदेह और ग़लतफ़हमी को दूर करने तथा आपत्ति व आक्षेप का निवारण करने का प्रयास किया जा रहा है।

1. धर्म परिवर्तन के बारे में इस्लाम की नीति।
2. मुस्लिम शासनकाल में धर्म-परिवर्तन।
3. वर्तमान में 'धर्म-परिवर्तन' के विषय में मुस्लिम पक्ष।

1. धर्म-परिवर्तन के बारे में इस्लाम की नीति

इस्लामी नीतियों, नियमों, शिक्षाओं तथा आदेशों-निर्देशों के मूल स्रोत दो हैं : एक—पवित्र ईशग्रंथ क़ुरआन, दो : इस्लाम के वैश्वीय आह्वाहक हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰)। इन दोनों मूल स्रोतों में पूरी मानव जाति को संबोधित करके विशुद्ध एकेश्वरवाद (तथा परलोकवाद व ईशदूतवाद) पर ईमान लाने का आह्वान किया गया है। इस ईमान के अनुकूल पूरा जीवन बिताने की शिक्षा दी गई है; और कभी बौद्धिक तर्क द्वारा, कभी मानवजाति के दीर्घ इतिहास के हवाले से, इस ईमान व अमल के इहलौकिक व पारलौकिक फ़ायदे बताए गए हैं तथा इस ईमान व अमल के इन्कार, अवहेलना, तिरस्कार एवं विरोध की इहलौकिक व पारलौकिक हानियां बताई गई हैं।

इसके बाद, इस्लाम की नीति यह है कि इस आह्वान पर सकारात्मक (Affirmative) या नकारात्मक (Negative) प्रतिक्रिया (Response) एक सर्वथा व्यक्तिगत कर्म तथा 'बन्दा और ईश्वर' के बीच एक मामला है। ऐसी

व्यक्तिगत प्रतिक्रिया को इस्लाम ने पूर्णतः व्यक्ति के 'विवेक' और 'स्वतंत्र चयन-नीति' का विषय क़रार देते हुए, इस मामले में किसी आम मुसलमान को तो क्या, अपने रसूलों (ईशदूतों) को और अन्तिम ईशदूत हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) को भी, बन्दे और ईश्वर के बीच हस्तक्षेप का अधिकार नहीं दिया है। (क़ुरआन, 88:22, 2:256)

2. मुस्लिम-शासनकाल में धर्म-परिवर्तन

यदि मुस्लिम शासनकाल में बलात् धर्म-परिवर्तन की कुछ घटनाएं घटी हैं तो वे इस्लाम की नीति के विरुद्ध घटीं। मुस्लिम शासक इस्लाम के प्रतिनिधि और वर्तमान के मुसलमानाने हिन्द के आदर्श (Role Model) नहीं थे, न हैं। यदि उनमें से किसी ने सचमुच ऐसा किया तो इस्लामी शिक्षा के विरुद्ध किया, पाप किया, जिसकी सज़ा उसे परलोक में ईश्वर देगा। वर्तमान के मुसलमान इसके उत्तरदायी नहीं हैं।

ऊपर 'यदि' और 'सचमुच' के शब्द इसलिए प्रयोग किए गए हैं कि इतिहास ऐसी घटनाओं की न केवल पुष्टि नहीं करता बल्कि इनका खंडन करता है। नगण्य मात्रा में कुछ अपवाद (Exceptions) तो हो सकते हैं। यहां 'इतिहास' से अभिप्राय वह इतिहास नहीं है जो ("फूट डालो, नफ़रत पैदा करो, लड़ाओ और शासन करो" की सोची-समझी नीति और गहरी तथा व्यापक साज़िश से) अंग्रेज़ों ने लिखी या जिसे कुछ विशेष मानसिकता और नीति वाला एक 'विशेष वर्ग' साठ-सत्तर वर्ष से अब तक लिखता आ रहा है। अनेकानेक निष्ठावान व सत्य-भाषी ग़ैर-मुस्लिम (हिन्दू) विद्वानों, प्रबुद्धजनों, शोधकर्ताओं, विचारकों तथा इतिहासकारों ने उपरोक्त आरोप का भरपूर व सशक्त खंडन किया है, हां यह बात अवश्य है कि ऐसे साहित्य व शोधकार्य तक आम देशवासियों की पहुंच नहीं है। (इस संक्षिप्त आलेख में, उपरोक्त खंडन को उद्धृत करने का अवसर नहीं है। संक्षेप में बस इतना लिख देना पर्याप्त है कि) उन विद्वानों के अनुसार उस काल में हुए धर्म-परिवर्तन के पांच मूल कारक थे :

एक : वर्ण-व्यवस्था द्वारा सताए, दबाए, कुचले जाने वाले असंख्य लोगों ने इस्लाम में बराबरी, सम्मान व बंधुत्व पाकर धर्म-परिवर्तन किया। **दो** : इस्लाम की मूल-धारणाओं को अपनी मूल प्रकृति के ठीक अनुकूल पाकर

इस्लाम ग्रहण किया। **तीन :** इस्लामी इबादतों (जैसे 'नमाज़') की सहजता व सुन्दरता तथा गरिमा के आकर्षण ने लोगों को इस्लाम के समीप पहुंचाया। **चार :** इस्लामी सभ्यता की उत्कृष्ठता, हुस्न, गरिमा तथा महात्म्य और उसकी पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक प्रशंसनीय ख़ूबियों ने लोगों को इस्लाम की छात्र-छाया में पहुंचाया, और **पांच :** इस्लामी राज्य-व्यवस्था में इन्साफ़ व अद्ल (न्याय) तथा शान्ति-स्थापना ने लोगों को इस्लाम की ओर आकर्षित किया। मुंशी प्रेमचन्द, एम॰एन॰ राय, रामधारी सिंह 'दिनकर', स्वामी विवेकानंद, विशम्भरनाथ पाण्डेय, प्रोफ़ेसर के॰एस॰ रामाराव, राजेन्द्र नारायण लाल, काशीराम चावला, बाबा साहब भीमराव अम्बेडकर, वेनगताचलम अडियार, पेरियार ई॰वी॰ रामास्वामी, कोडिक्कल चेलप्पा, किशन पटनायक और स्वामी लक्ष्मीशंकराचार्य आदि सिर्फ़ कुछ नाम हैं (बेशुमार नामों में से) जिन्होंने या तो इस्लाम की उत्कृष्ट ख़ूबियां बताई हैं या मुस्लिम शासनकाल में धर्म परिवर्तन के वास्तविक (Factual) कारकों को लिखा है।

3. वर्तमान में 'धर्म-परिवर्तन'—मुस्लिम-पक्ष

आज (और वर्षों-वर्षों से) लगभग पूरी दुनिया की तरह भारतवासी भी धर्म परिवर्तन कर रहे हैं। कुछ अन्य धर्मों के धर्म-प्रचारक यदि धर्म-परिवर्तन कराते हों तो कराते हों, जो भी तरीक़ा अख़्तियार करते हों, और उद्देश्य जो कुछ भी हो, उस सबसे भारतीय मुसलमानों का मामला बिल्कुल भिन्न है। वे अच्छी तरह जानते हैं कि लालच देकर या ज़ोर-ज़बरदस्ती से धर्म परिवर्तन कराना पाप है, इस्लाम उन्हें इसकी अनुमति नहीं देता। (सन अस्सी के दशक में दक्षिण-भारत में कई गांवों के सैकड़ों लोगों ने इस्लाम स्वीकार किया था तब 'पेट्रोडॉलर' के इस्तेमाल की बात ख़ूब उछाली गई थी। देश के कोने-कोने से 'उच्च वर्ग' खिंच-खिंचकर वहां पहुंच गया था। पत्रिका 'सरिता' के अन्वेषक भी वहां पहुंचे थे और फिर विस्तार से लिखा था कि पेट्रोडॉलर की लालच ने नहीं, सदियों से अछूत, दलित, शोषित तथा व्यापक रूप से तिरस्कृत रहने वाले लोगों के लिए इस्लाम द्वारा प्रदत्त 'मानव-समानता' व 'मानव-सम्मान' ने उन्हें धर्म परिवर्तित कराके इस्लाम की गोद में पहुंचाया)। दलितपन, शोषण, अछूतपन, अपमान तथा अत्याचार की स्थिति अभी भी विद्यमान है जो धर्म-परिवर्तन का कारक बन रही है। शायद वर्ण-व्यवस्था इस स्थिति को सदा क़ायम रखेगी।

इस्लाम ने दुनिया के हर मुसलमान को, कुरआन में यह बताकर कि "तुम उत्तम समुदाय हो जो मानवजाति की भलाई के लिए उत्पन्न किए गए हो... (3:110)" और "(लोगों को) अपने रब के रास्ते (सत्य मार्ग) की ओर सूझ-बूझ, अच्छे वचन तथा उत्तम वाद-संवाद द्वारा बुलाओ (16:125)"; यह आदेश दिया है कि मानवजाति के हित व उपकार में, लोगों के शुभाकांक्षी (Well-wisher) बनकर इस्लाम का प्रचार, प्रसार, आह्वान करो। भारतीय मुस्लिमों में से कुछ लोग यह पुण्य, पवित्र काम निस्वार्थ भाव से अंजाम दे रहे हैं, इस्लाम का संदेश देश बंधुओं तक पहुंचा रहे हैं। उन तक उनकी मातृभाषा में ईशग्रंथ कुरआन, अपने सामर्थ्य भर पहुंचा रहे हैं, उनका काम यहीं तक, और मात्र यहीं तक है, पूरा देश इसका साक्षी है। इसके बाद कुछ लोग अगर अपना धर्म परिवर्तित करके सत्य मार्ग पर आ जाना, सत्य धर्म स्वीकार कर लेना पसन्द कर लेते हैं तो यह 'उनके' और 'ईश्वर के' बीच व्यक्तिगत मामला है।

जहां तक ग़ैर-मुस्लिम लड़कियों के, विवाह-हेतु धर्म परिवर्तन की बात है, इसमें प्रमुख भूमिका आधुनिक कल्चर की है। सहशिक्षा (Co-education) के दौरान विद्यालयों में, तथा नौकरी के दौरान कार्य स्थलों पर नवयुवकों-नवयुवतियों का स्वतंत्रापूर्वक मेल-जोल, एकांत-भेंट स्वाभाविक रूप से दोनों को कुछ अधिक घनिष्ठ संबंध बनाने का अवसर देता है। नवजवान लड़कों-लड़कियों को 'ब्वॉयफ्रेंड' और 'गर्लफ्रेंड' कल्चर का तोहफ़ा, जिस पर हमारे समाज का आधुनिकतावादी वर्ग बहुत गर्व करता है, इस्लाम या मुसलमानों ने बनाकर नहीं परोसा है। ये 'घनिष्ठ' संबंध अन्दर-अन्दर कैसे-कैसे अनैतिक रूप धारण करते या कर सकते हैं, इससे बेपरवाह और संवेदनहीन समाज के पास शायद इस बात पर आपत्ति का औचित्य नहीं रह जाता है कि किसी युवक-युवती ने परस्पर विवाह करके स्वयं को अनैतिक कार्य और दुष्कर्म से बचा लिया। बदलते-बिगड़ते सामाजिक वातावरण की ऐसी (नगण्य) व छुट-पुट व्यक्तिगत घटनाओं को मुसलमानों की 'साज़िश' क़रार देना एक स्पष्ट मिथ्यारोपण है।

❖❖

इस्लामी सज़ाएं—क्रूरता व निर्दयता?

"इस्लामी सज़ाएं बड़ी क्रूर व निर्दयतापूर्ण हैं। वर्तमान सभ्यता में अंधकार काल की ऐसी सज़ाओं का क्या औचित्य कि हाथ काट दिया जाए, कोड़े लगाए जाएं, जान से मार दिया जाए। यह व्यक्तिगत मानव-अधिकार का हनन भी है।"
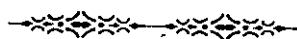
इस्लामी शरीअत की सज़ाएं, संक्षेप में निम्नलिखित हैं, जिन्हें 'क्रूर' और 'निर्दयतापूर्ण' तथा 'मानवाधिकार-हनन' कहा जाता है :

1. चोरी की सज़ा 'हाथ काट देना'।
2. व्यभिचार, बलात्कार की सज़ा 'कोड़े मारना' या 'जान से मार डालना', (जैसा अपराध हो उसी के अनुकूल)।
3. व्यभिचार (या बलात्कार) का आरोप (जिसे गवाहों द्वारा सिद्ध न किया जा सके) लगाने वाले को 'कोड़े मारने' की सज़ा।
4. हत्यारे को 'हत्या-दंड'।

आज के समाज में जिसे स्वयं हम ही लोगों ने बनाया है न कि इस्लाम ने, और जो सेक्युलर (ईश्वर-विहीन) होने के कारण से नैतिकता व ईशपरायणता पर आधारित समाज नहीं बल्कि भौतिकता, स्वच्छंदता तथा अनैतिकता से बोझिल समाज है, उपरोक्त सज़ाएं सचमुच क्रूर और निर्दयतापूर्ण हैं। ऐसी सामाजिक, सांस्कृतिक व नैतिक व्यवस्था में उपरोक्त सख़्त सज़ाएं लागू ही नहीं हो सकतीं। इस्लाम तो पहले एक ईश-केन्द्रित (God-centred) और परलोक मुखी (Akhirah oriented) समाज और सामूहिक व्यवस्था, कल्चर, सभ्यता-संस्कृति बनाता है। उसमें चोरी, व्यभिचार, बलात्कार, हत्या, उपद्रव, डाका आदि के अवसरों की संभावना को शिक्षा-दीक्षा, नैतिक प्रशिक्षण, ईश-भय तथा परलोक में इस जीवन के हर कर्म के (ईश्वर के समक्ष) उत्तरदायित्व तथा अपराधों की अवश्यंभावी सज़ा के दृढ़ विश्वास द्वारा कम करते-करते न्यूनतम स्तर पर ले आता है, बल्कि कुछ मामलों में तो शून्य-स्तर पर। इसके बाद भी जब कोई व्यक्ति (नारी य पुरुष) अपराध करता है तो

इस्लाम इससे यह निष्कर्ष निकालता है कि वह व्यक्ति समाज के शरीर का कैंसर और ज़हर है। उसे यदि समाज से समाप्त न कर दिया गया, या उसका ज़हर निकाल न दिया गया तो वह समाज के लिए घातक और समाज के नैतिक स्वास्थ्य के लिए अतिहानिकारक होगा। इस प्रकार इस्लाम एक या चन्द-एक ऐसे 'कैंसरों' से समाज और शरीर को मुक्त करने के लिए कठोरतम् सज़ाओं का प्रावधान करता है।

चोरी की सज़ा

इस्लामी राज्य सचमुच का 'कल्याणकारी राज्य' (Welfare state) होता है (न कि उन 'सेक्युलर डिमॉक्रेटिक' राज्यों की तरह जो स्वयं के 'कल्याणकारी' होने का दावा व प्रोपगंडा करते हैं लेकिन उन्हीं की छत्र-छाया में लाखों-करोड़ों निर्धन, ग़रीब, दरिद्र तथा आजीविका संसाधन से वंचित लोग दो रोटी को तरसते, भूखों मरते, दवा-इलाज कराने में असमर्थ रहते, आत्महत्या तक कर लेते हैं)। इस्लामी (कल्याणकारी) राज्य में यह शासन का उत्तरदायित्व होता है कि अपने किसी भी नागरिक को मूलभूत आवश्यकताओं और आजीविका संसाधन से वंचित न रहने को यक़ीनी बनाए। इसके बाद भी यदि कोई व्यक्ति चोरी करे तो स्पष्ट है कि वह चोरी के लिए मजबूर नहीं था। तब इस्लाम उस पर अपना क़ानून लागू कर देता है; क़ुरआन कहता है :

> **"और चोर, चाहे औरत हो या मर्द, दोनों के हाथ काट दो।* यह उनकी कमाई का बदला है और अल्लाह की ओर से शिक्षाप्रद सज़ा।" (5:38)**
>
> *(पहली चोरी पर दायां हाथ, दोबारा चोरी करे तो बायां हाथ। इस्लामी शरीअत में व्याख्या की गई है कि किन चीज़ों की (कितनी मात्रा की) चोरी पर यह सज़ा नहीं दी जाएगी।)

इस्लामी शासक (पैग़म्बर मुहम्मद सल्ल.) के दूसरे उत्तराधिकारी हज़रत उमर (रज़ि.) के शासनकाल (634-645 ई.) में एक बार इतना भारी अकाल पड़ा कि देश और समाज की आर्थिक स्थिति असमान्य हो गई। एक व्यक्ति ने चोरी की। सिद्ध हो जाने पर कि उसने बहुत मजबूरी की हालत में चोरी की थी, हज़रत उमर (रज़ि.) ने अस्थाई रूप से चोरी की सज़ा (हाथ काट देना) निलंबित (Suspend) कर दिया था।

सामान्य परिस्थितियों में, हाथ काटने की सज़ा देकर इस्लाम ने व्यक्ति को, समाज को बड़ी बेचैनी, बदअमनी से और प्रशासन व्यवस्था व न्याय व्यवस्था को अपराधों के भारी बोझ से बचा लिया।

व्यभिचार/बलात्कार की सज़ा

इस्लाम ने अपनी परदा-प्रणाली द्वारा, और विपरीत लिंगों (Opposite sexes) के बेरोकटोक, अनियंत्रित, स्वच्छंद मेल-जोल पर अंकुश लगाकर व्यभिचार (ससहमति अवैध यौनाचार) तथा बलात्कर का प्रवेश द्वार बन्द कर दिया। अब भी यदि कोई व्यक्ति (महिला या पुरुष) इस द्वार को तोड़ कर अपराध-गृह में घुस जाए तो इसका मतलब है कि वह मनुष्य नहीं, शैतान है। उसे कठोरतम् सज़ा देकर समाज को ऐसी शैतनत तथा इसके अनेकानेक दुष्परिणामों और कुप्रभावों से बचाने का प्रावधान अवश्य करना चाहिए। अब इस्लाम उस पर अपना क़ानून लागू कर देता है। क़ुरआन कहता है–

> **"व्यभिचारिणी औरत और व्यभिचारी मर्द दोनों में से हर एक को सौ कोड़े मारो। और उन पर तरस खाने की भावना अल्लाह के धर्म के विषय में तुम को न सताए अगर तुम अल्लाह और अन्तिम दिन** (परलोक में हिसाब-किताब और कर्मों के बदला मिलने के दिन) **पर ईमान रखते हो। और उनको सज़ा देते समय ईमान वालों का एक गिरोह (वहां) मौजूद रहे।"*** (24:2)
>
> *(ताकि समाज में यदि कुछ बुरे तत्व हों तो वे डर जाएं और ऐसा कुकृत्य करने की हिम्मत न कर सकें।)

वर्तमान सेक्युलर क़ानून ससहमति व्यभिचार (Fornication) को क़ाबिले सज़ा क़ानूनी जुर्म नहीं मानता (बल्कि, अफ़सोस है कि इसे व्यक्तिगत स्वतंत्रता का 'मानवाधिकार' मानता है)। यह सोचा ही नहीं जाता कि ससहमति व्यभिचार, यहीं नहीं रुका रहता बल्कि अगले चरण, 'बलात्कार' में भी क़दम रखे बिना इसका पूर्ण समापन नहीं होता। इस्लाम ने यह मूर्खता नहीं की है। हां इतना ख़्याल अवश्य रखा है इन्सानी कमज़ोरी का कि शरीअत ने अविवाहित (एक या दोनों पक्षों) को अस्सी-अस्सी कोड़े मारने की; और विवाहित होकर भी व्यभिचार/बलात्कार करने वाले को 'पत्थर मार-मारकर मार डालने' की सज़ा निर्धारित की है। इससे व्यभिचार/बलात्कार के 'न्यूनतम स्तर' को 'शून्य-स्तर (Zero level) पर ले आना अभीष्ट (Required) है।

व्यभिचार/बलात्कार के असिद्ध आरोप की सज़ा

इस्लाम की दृष्टि में चरित्र-हनन (Character Assassination) और किसी को अनुचित बदनाम करना (Defamation) बड़ा पाप है। विशेषतः शीलवान स्त्रियों/पुरुषों पर व्यभिचार/बलात्कार का झूठा आरोप लगाना तो महापाप है और क़ानूनन अपराध भी। क़ुरआन कहता है :

> **"और जो लोग पाकदामन (शीलवान) औरतों पर तोहमत (मिथ्यारोप) लगाएं, फिर चार गवाह लेकर न आएं उनको अस्सी कोड़े मारो और उनकी गवाही कभी स्वीकार न करो, और वे ख़ुद ही पापी हैं, सिवाय उन लोगों के जो इस हरकत के बाद तौबा कर लें और सुधर जाएं अल्लाह अवश्य** (उनके प्रति) **क्षमाशील और दयावान है।"** (24:4,5)
>
> (यदि किसी व्यभिचारी/बलात्कारी पर चार गवाह न हों तो क़ानून तो उसे/उन्हें सज़ा नहीं देगा। लेकिन उसका/उनका साफ़ छूट जाना यह अर्थ हरगिज़ नहीं रखता कि उनके इस अपराध की कोई सज़ा ही न थी। परलोक जीवन में, जिसमें कि यहां के पापों व अपराधों की पूरी सज़ा मिलनी, ईश्वर की न्यायप्रदत्त का तक़ाज़ा है, व्यभिचारी या बलात्कारी को नरक की घोर, कठोर यातना मिलकर रहेगी)।

नाहक़ (अनुचित) हत्या की सज़ा

सेक्युलर क़ानून-व्यवस्था में, 'मानवाधिकार' के तर्क पर (कुछ अति विशेष मामलों को छोड़कर साधारणतया) हत्या की सज़ा 'मौत' का प्रावधान नहीं रखा गया है। यह क़ानून प्रत्यक्ष तथा आश्चर्यजनक रूप से हत्यारे के प्रति बड़ी हद तक सहानुभूति और दयाशीलता का पक्षधर है और जिसकी हत्या हुई उसके परिजनों (माता-पिता, औलाद, पत्नी, परिवार आदि) की भावनाओं, उनकी मुसीबतों व समस्याओं, उनकी आर्थिक कठिनाइयों से निस्पृह (Indifferent) है। हत्यारे का तो 'मानवाधिकार' प्रिय हो जाता है और प्रभावित परिवार का मानवाधिकार उसके घर के अन्दर एड़ियां रगड़-रगड़ कर बिलखता, तड़पता रहता है। हत्यारा कुछ समय बाद जेल से छूटकर मौज कर रहा होता है और पीड़ित परिवार रंज, ग़म, ग्लानि, पीड़ा, अनाथपन, विधवापन, और कुछ मामलों में आर्थिक तबाही, बरबादी, बेबसी आदि की मार खाने के लिए छोड़ दिया जाता है। परिणामतः हज़ारों हत्याएं प्रतिवर्ष होती हैं। अदालतें ऐसे मुक़दमों

के बोझ तले दबी कराह रही होती हैं। हत्या के प्रतिशोध में भी हत्याएं होती हैं। शत्रुता, अशान्ति से परिवार, घराने और समाज प्रदूषित होकर रह जाते हैं।

इस्लाम ऐसी परिस्थिति को न बर्दाश्त करता है न उत्पन्न होने देता है, न पनपने, फलने-फूलने देता है। कुरआन कहता है :

> **"ऐ लोगो जो ईमान लाए हो! तुम्हारे लिए हत्या के मुक़दमों में क़िसास (बदले) का आदेश लिख दिया गया है। आज़ाद आदमी ने हत्या की हो तो उस आज़ाद आदमी से ही बदला लिया जाए, गुलाम हत्यारा हो तो वह गुलाम ही क़त्ल किया जाए, और औरत ने हत्या की हो तो उस औरत से। हां, यदि किसी क़ातिल के साथ, उसका भाई (अर्थात् मृतक का कोई परिजन, जो इन्सानी रिश्ते से 'भाई' ही है) कुछ नरमी करने के लिए तैयार हो तो सामान्य नियम के अनुसार ख़ून के माली (रुपये-पैसे से) बदले का निपटारा होना चाहिए और क़ातिल के लिए आवश्यक है कि भले तरीक़े से 'ख़ून-बहा' (हत्या प्रतिदान राशि) चुका दे...अक़्ल और सूझबूझ वालो, तुम्हारे लिए 'क़िसास' में ज़िन्दगी है। आशा है कि तुम इस क़ानून के उल्लंघन से बचोगे।"** (2:178,179)

कुरआन ने 'क़त्ल की सज़ा क़त्ल' (या हत्या-प्रतिदान-राशि) को 'ज़िन्दगी' कहा है क्योंकि इससे, आगे क़त्ल होने वाली बहुत-सी ज़िन्दगियां बच जाती हैं। अतः इसे 'क्रूरता' और 'निर्दयता' कहने का कोई औचित्य ही नहीं है।

❖❖

‘मुस्लिम पर्सनल लॉ’—पृथकतावाद?

“भारत के मुसलमान अपने लिए अलग पर्सनल लॉ होने पर आग्रह (ज़िद) क्यों करते हैं? इस हठ से उनमें अलगाव की नीति का बोध होता है। सारे भारतवासियों के लिए ‘समान नागरिक संहिता (Uniform Civil Code) होना चाहिए, यह देश की एकता व अखण्डता का भी तक़ाज़ा है और तमाम नागरिकों के, क़ानून की निगाह में बराबर होने का तक़ाज़ा भी। संविधान भी यही चाहता है।”
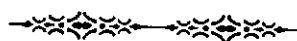
इस संदेह, ग़लतफ़हमी और आपत्ति के तीन पहलू हैं :—

1. भारतीय संविधान में ‘समान नागरिक संहिता’ की बात का उल्लिखित होना,

2. समान नागरिक संहिता लागू न होने का परिणाम, ‘देश की एकता, अखण्डता को ख़तरा’ होना, तथा

3. मुसलमानों की, अपने अलग पर्सनल लॉ के लिए ज़िद।

1. संविधान में समान नागरिक संहिता का उल्लेख

यह सही है कि संविधान में समान नागरिक संहिता लागू किए जाने की बात कही गई है। लेकिन यह बात उसके प्रस्तावना (Preamble) में कही गई है, न कि मूल संविधान में। मूल संविधान में धाराओं 25(1) और 26(B) के अंतर्गत जो बातें कही गई है उनका सार यह है कि हर धार्मिक समुदाय को इसका अधिकार प्राप्त होगा कि अपने धर्म पर चले, तथा अपने तौर पर अपने धार्मिक क्रिया-कलाप अंजाम दे। अतः यह सिर्फ़ मुसलमानों (या अन्य अल्पसंख्यक समुदायों) का मामला ही नहीं, बल्कि संवैधानिक प्रावधान का भी तक़ाज़ा है कि उसके अंतर्गत देश में समान नागरिक संहिता लागू न हो।

2. देश की एकता, अखण्डता का प्रश्न

यदि अलग पर्सनल लॉ से देश की एकता, अखण्डता को ख़तरा है तो फिर मुसलमानों से ज़्यादा, उन प्रबुद्धजनों और भारत के शुभचिंतकों पर इस शंका

या आरोप की छाया पड़ जाती है जिन्होंने 'विश्व का उत्तम' संविधान समझा जाने वाला संविधान बनाया और उसमें धाराओं 25(1) और 26(B) को उल्लिखित किया था।

यदि मुस्लिम समुदाय, फ़ौजदारी क़ानून (Criminal Code) की धाराओं को मानता है क्योंकि फ़ौजदारी के मामलों में दूसरा पक्ष ग़ैर-मुस्लिम भी हो सकता है; और दीवानी मामलों में से व्यक्तिगत, घरेलू व पारिवारिक मामलों को छोड़कर (जिनमें दूसरा पक्ष ग़ैर-मुस्लिम नहीं हो सकता) अधिकतर में वह हर नागरिक पर लागू क़ानून पर ही अमल करता है तो सिर्फ़ कुछ थोड़े से दीवानी मामलों (जैसे विवाह, तलाक़ आदि) में अलग क़ानून पर चलने से देश की एकता-अखण्डता का ख़तरे में पड़ जाना, समझ से बाहर, एक तर्करहित बात मानी जाएगी। 65 साल से तो ऐसा कोई ख़तरा आया नहीं, वरना अगर शंका या आरोप में सच्चाई होती तो अब तक वह ख़तरा कभी न कभी, थोड़ा बहुत ही सही, सामने आ जाता और देश के कुछ छोटे या बड़े टुकड़े हो जाना चाहिए थे; जबकि ये 65 वर्ष गवाह हैं कि भारतीय मुसलमानों ने भारत की उन्नति व प्रगति में किसी भी (बहुसंख्यक या अल्पसंख्यक) समुदाय से कम या निम्नस्तरीय योगदान (जहां तक उन्हें अवसर मिला या दिया गया) नहीं दिया है। भला इस बात से देश की एकता-अखण्डता का क्या संबंध कि एक समुदाय अपने दाम्पत्य या निजी पारिवारिक मामले दूसरों से भिन्न शैली में अपनाता और चलाता है।

एकता तो उस समय प्रभावित होगी और अखण्डता को ख़तरा उस समय पेश आ सकता है जब विभिन्न समुदायों को मजबूर किया जाए कि वह अपने धार्मिक नियमों और मान्यताओं, तथा व्यक्तिगत व पारिवारिक क्षेत्र की परम्पराओं को छोड़ दें। फिर तो मुसलमानों तक ही बात सीमित नहीं रह पाएगी, या अन्य अल्पसंख्यकों तक; बल्कि ख़ुद वह समाज जिसे बहुसंख्यक (हिन्दू) समाज कहा जाता है, और जिसमें नस्ल, वर्ण, जाति, उपजाति, उप-उपजाति पर आधारित सैकड़ों उप-समुदाय हैं, आपस में ही उलझ कर, अशांति व संघर्ष तथा अन्तर्विरोध का शिकार होकर रह जाएगा। यही कारण है कि समान नागरिक संहिता का मुद्दा रह-रहकर उठाने वाले लोग भी यह बात मानते, स्वीकार करते और कहते हैं कि हमारे देश में कोई समान नागरिक संहिता संभव एवं व्यवहारणीय है ही नहीं।

3. मुसलमानों का आग्रह

मुस्लिम पर्सनल लॉ पर मुसलमानों के आग्रह के कारण मुख्यतः दो हैं, **एक :** ये (निकाह, तलाक़ आदि) के क़ानून उनके अपने बनाए हुए नहीं, ईश्वर द्वारा बनाए गए हैं। शरीअ़त (इस्लामी विधान) की मौलिक रूप-रेखा अल्लाह की बनाई हुई, तथा इसकी व्याख्या भी अल्लाह के, या विस्तार में जाने पर अल्लाह के पैग़म्बर (ईशदूत) हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) के द्वारा तय की गई है। किसी मुसलमान धर्म-विद् को, या दुनिया के सारे मुसलमान मिल जाएं तो उन्हें भी, उस मौलिक रूप रेखा में, उसकी पैग़म्बरीय व्याख्या में परिवर्तन, कमी-बेशी का अधिकार प्राप्त नहीं है (समयानुसार, या आवश्यकतानुसार) उन क़ानूनों की विवेचना और लागूकरण (Interpretation and Application) सिर्फ़ उतनी ही, उसी सीमा के अंतर्गत की जा सकती है जो मौलिक-स्तर पर अल्लाह और उसके पैग़म्बर ने निर्धारित कर दी है। उस मात्रा की अवहेलना तथा उस सीमा का उल्लंघन करते ही, इस्लाम का तिरस्कार हो जाएगा, मुस्लिम समुदाय इस्लाम की परिधि से बाहर निकल जाएगा। इस्लाम की वास्तविकता, तथा इस्लाम और मुसलमानों के बीच संबंध, और मुसलमानों के जीवन के कुछ विशेष क्षेत्रों में इस्लामी शरीअत की इस भूमिका से भली-भांति अवगत (Informed) न होने के कारण ही, हमारे देशबंधुओं को यह उलझन कभी-कभी सताया करती है कि आख़िर मुस्लिम समुदाय अपने लिए अलग पर्सनल लॉ पर इतना घोर आग्रह ('ज़िद'?) और समान नागरिक संहिता (Common Civil Code) का विरोध क्यों करता है।

दो : किसी भी बुद्धिमान भारतीय नागरिक की तरह मुसलमानों को भी यह यक़ीन है कि मुस्लिम समुदाय के 'पर्सनल लॉ' से न तो पृथकतावाद का कोई संबंध है, न ही इससे देश की एकता व अखण्डता को ख़तरा होने की शंका में कोई लेशमात्र भी सच्चाई है (बल्कि सच यह है कि इस मुद्दे को, मात्र राजनीतिक हित (वोटों के ध्रुवीकरण) के लिए कुछ-कुछ वर्षों बाद छेड़ दिया जाता है; इसे छेड़ने वाले लोग भी 'समान नागरिक संहिता' की व्यावहारिकता के इन्कारी हैं)।

❖❖

'सर्व-धर्म-समानता'—क्यों नहीं?

सारे धर्म अच्छी शिक्षाएँ देते हैं। सब, एक ही शाश्वत शक्ति की बात करते हैं चाहे उसके नाम अलग ही हों; यानी–ईश्वर, ख़ुदा, अल्लाह, गॉड आदि। सारे धर्मों की मंज़िल एक ही है चाहे रास्ते अलग-अलग हों। इस तरह सारे धर्म 'सत्य' हैं, समान हैं। फिर इस्लाम, मात्र अपने को ही 'सत्य धर्म' क्यों कहता है? अनेकता में एकता का पक्षधर क्यों नहीं है?
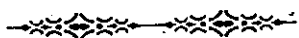
उपरोक्त विचार, और उससे पैदा होने वाले प्रश्न 'धर्म' के विषय में गहरे और गंभीर चिंतन-मनन व अध्ययन की कमी, एवं उथली व जल्दबाज़ सोच के नतीजे में उत्पन्न हुए हैं। वर्तमान युग ऐसे ज्ञान-विज्ञान, बौद्धिकता और तर्क, प्रमाण का युग है; किसी विषय के बिल्कुल अन्दर तक जाकर उसके सारे पहलुओं, पक्षों और आयामों को विचाराधीन लाने का युग है कि हर व्यक्ति किसी भी चीज़ के बारे में कोई राय बनाने, नीति अपनाने के लिए अपनी बुद्धि-विवेक और चिंतन-शक्ति का यथासंभव पूरा इस्तेमाल करता है। लेकिन बड़ी अजीब बात है कि धर्म (जैसे महत्वपूर्ण विषय) पर वह सामान्यतया बड़ी लापरवाही और अगंभीरता से काम लेता और इसी स्थिति में कोई राय बना लेता है। फिर उस राय पर जम जाता है, उसका प्रचार-प्रसार करने लगता है।

'सर्व-धर्म समभाव' की विचारधारा भी इसी शोच-शैली का परिणाम है। आगामी पंक्तियों में इस विषय के विभिन्न पहलुओं पर दृष्टि डालते हुए इसकी वास्तविकता को समझने-समझाने का प्रयास किया जा रहा है। इस प्रयास में इस प्रश्न का उत्तर भी सामने आ जाएगा कि इस्लाम, सिर्फ़ ख़ुद को ही "एकमात्र सत्य-धर्म" क्यों कहता है? इसके तर्क क्या हैं और जो तर्क वह प्रस्तुत करता है वह कितने स्वाभाविक व बुद्धिसंगत हैं।

धर्म

धर्म मौलिक मानवीय मूल्यों (अच्छे गुणों) और इन पर आधारित अच्छी-अच्छी शिक्षाओं से आगे की चीज़ है। अच्छे गुण (उदाहरणतः नेकी, अच्छाई, सच

बोलना, झूठ से बचना, दूसरों की सहायता करना, ज़रूरतमन्दों के काम आना, दुखियों के दुःख बाँट लेना, निर्धनों-निर्बलों को सहयोग करना आदि) हर व्यक्ति की प्रकृति का अभाज्य अंग है चाहे वह व्यक्ति किसी धर्म का अनुयायी हो, या अधर्मी और नास्तिक। धर्म इन गुणों की शिक्षा तो देता है इन्हें महत्व भी बहुत देता है तथा मनुष्यों और मानव-समाज में इनके प्रचलन, उन्नति व स्थापन पर पूरा ज़ोर भी देता है, परन्तु ये मानवीय गुण वह आधारशिला नहीं है जिन पर धर्म का भव्य भवन खड़ा होता है। इसलिए धर्म के बारे में कोई निर्णायक नीति निश्चित करते समय बात उस बिन्दु से शुरू होनी बुद्धिसंगत है जो धर्म का मूल तत्व है। यहाँ यह बात भी स्पष्ट रहनी आवश्यक है कि संसार में अनेक मान्यताएँ ऐसी हैं जो 'धर्म' के अंतर्गत नहीं 'मत' के अंतर्गत आती हैं। इन दोनों के बीच जो अंतर है वह यह है कि 'धर्म' में ईश्वर को केन्द्रीय स्थान प्राप्त है और 'मत' में या तो ईश्वर की सिरे से कोई परिकल्पना ही नहीं होती; या वह ईश्वर-उदासीन (Agnostic) होता है, या ईश्वर का इन्कारी होता है। फिर भी 'धर्म' के अनुयायियों में भी और 'मत' के अनुयायियों में भी सभी मौलिक मानवीय गुण और मूल्य (Human Values) पाए जाते हैं।

धर्म क्या है?

उपरोक्त परिप्रेक्ष्य में 'धर्म' विचारणीय वही है जो 'ईश-केन्द्रित' (God Centric) हो। इस 'धर्म' में 'ईश्वर पर विश्वास' करते ही कुछ और तत्संबंधित बातों पर विश्वास अवश्यंभावी हो जाता है; जैसे : ईश्वर के, स्रष्टा, रचयिता, प्रभु, स्वामी, उपास्य, पूज्य होने पर विश्वास। इसके साथ ही उसके अनेक गुणों, शक्तियों व क्षमताओं पर भी विश्वास आप से आप अनिवार्य हो जाता है। यहाँ से बात और आगे बढ़ती है। यह जानने के लिए कि ईश्वर की वास्तविकता क्या है; वह हम से अपनी पूजा-उपासना क्या और कैसे कराना चाहता है; हमारे लिए, हमारे जीवन संबंधी उसके आदेश (Instructions), आज्ञाएँ (Injunctions), नियम (Rules), पद्धति (Procedures), आयाम (Dimensions), सीमाएँ (Limits), उसके आज्ञापालन के तरीक़े (Methoos) आदि क्या हैं, अर्थात् हमारे और ईश्वर के बीच घनिष्ठ संबंध की व्यापक रूपरेखा क्या हो; हमें उसकी ओर से एक आदेश-पत्र की आवश्यकता है जिसे 'ईशग्रंथ' कहा जाता है। यहाँ से बात थोड़ी और आगे बढ़कर इस बात को

अनिवार्य बना देती है कि फिर मनुष्य और ईश्वर के बीच कोई मानवीय आदर्श माध्यम भी हो (जिसे अलग-अलग भाषाओं में पैग़म्बर, नबी, रसूल, ऋषि, Prophet आदि कहा जाता है)। इसके साथ ही यह जानना भी आवश्यक है कि धर्म की 'मूलधारणा' क्या है उस मूलधारणा के अंतर्गत और कौन-कौन-सी मौलिक स्तर की उपधारणाएँ आती हैं, तथा उस मूलधारणा और उसकी उपधारणाओं के मेल से वह कौन-सी परिधि बनती है जो धर्म की सीमाओं को निश्चित व निर्धारित करती है जिसके अन्दर रहकर मनुष्य 'धर्म का अनुयायी' रहता है तथा जिसका उल्लंघन करके 'धर्म से बाहर' चला जाता, विधर्मी हो जाता है। धर्म यदि वास्तव में 'धर्म' है, सत्य धर्म है, शाश्वत धर्म है, सर्वमान्य है, सर्वस्वीकार्य है तथा उसकी सुनिश्चित रूपरेखा व सीमा है तब उसे उस 'मनुष्य' का धर्म होने का अधिकार प्राप्त होता है जो मात्र एक प्राणी, एक जीव ही नहीं, सृष्टि का श्रेष्ठतम अस्तित्व भी है।

क्या सारे धर्म समान हैं?

इस प्रश्न का उत्तर खोजने से पहले कुछ महत्वपूर्ण बातों का, विचाराधीन आना आवश्यक है : जब ईश्वर मात्र **'एक'** है; हर जीव-निर्जीव की संरचना उस **'एक'** ही ईश्वर ने की है, विशेषतः 'मनुष्यों' का रचयिता वही **'एक'** ईश्वर है; यह सृष्टि और ब्रह्माण्ड (जिसका, मनुष्य एक भाग है) उसी **'एक'** ईश्वर की शक्ति-सत्ता के अधीन है; मनुष्यों की शारीरिक संरचना **'एक'** जैसी है वायुमंडल **'एक'** है; बुराई, बदी की परिकल्पना भी सारे मनुष्यों में **'एक'** है, और अच्छाई की परिकल्पना भी **'एक'**; सत्य **'एक'** है जो शाश्वत व अपरिवर्तनशील है.....तो फिर धर्म **'अनेक'** क्यों हों? जब संसार और सृष्टि की बड़ी-बड़ी हक़ीक़तें, जिनका प्रत्यक्ष या परोक्ष संबंध मनुष्य से है, **'एक'** ही **'एक'** हैं तो फिर मनुष्यों के लिए धर्म का **'अनेक'** होना न तार्किक है न बुद्धिसंगत। मस्तिष्क और चेतना इस **'अनेकता'** को स्वीकार नहीं करती।

इस्लाम की विचारधारा : इस्लाम इस उलझन को सहज रूप से सुलझा देता है। इस विचारधारा के अनुसार धर्म (अनेक नहीं) **एक,** मात्र **'एक ही'** है। धर्म 'शाश्वत सत्य' है। यह **'एक'** ही है, **'एक'** ही था, **'एक'** ही रहेगा। इसे विभिन्न युगों में, विभिन्न भाषाओं में अनेक शब्दों में अनेक नामों से जाना गया

हो, यह तो तर्कसंगत है लेकिन शब्द अनेक प्रयुक्त होने से धर्म **'अनेक'** नहीं हो जाते। जो सत्य है वह धर्म है, जो धर्म है वह सत्य है। 'सत्य' में विरोधाभास व विषमता संभव नहीं अतः जिसमें विरोधाभास हो व न सत्य है न सत्य धर्म। और यदि धर्म, बहुत सारे बन गए या बना लिए गए हों और सभों की मूलधारणाओं एवं मूलभूत मान्यताओं व अवधारणाओं में बड़ा अंतर हो, उनमें बड़े-बड़े विरोधाभास (Contradictions) हों तो ऐसा हो ही नहीं सकता कि वे सारे, सच्चे और एक समान हों। इस बात को अधिक स्पष्ट रूप से समझने में, वस्तुस्थिति पर एक तथ्यपरक (Objective) दृष्टि डालनी सहायक होगी।

'धर्म' और 'धर्मों' की परिकल्पनाएँ परस्पर प्रतिकूल हैं

'धर्म' का, 'धर्मों' का रूप ले लेना ही धर्मों में विषमता को अवश्यंभावी (Inevitable) कर देता है। ये विषमताएँ जब मूलभूत धारणाओं, सिद्धांतों, मान्यताओं, नियमों और शिक्षाओं में प्रत्यक्ष और स्पष्ट रूप से अवलोकित होने और समाज पर गहरा असर डालने लगें तो समाज में भिन्नता की ऐसी मज़बूत बुनियादें पड़ जाती हैं कि 'सारे धर्म समान हैं', एक 'मात्र नारा' तो बन सकता है, यह व्यावहारिकता का स्वरूप धारण नहीं कर सकता। ऐसी कुछ मुख्य विषमताएँ यहाँ प्रस्तुत की जा रही हैं :

धर्मों में विषमताएँ (Contradictions) :

★ कोई धर्म यह कहे कि पूज्य, उपास्य केवल 'एक ईश्वर' है और दूसरा धर्म कहे कि नहीं, दो उपास्य और भी हैं।

★ पूज्य-उपास्य होने में 'एक' और 'तीन' तक ही बात सीमित न रह जाए बल्कि कोई तीसरा धर्म कहे कि पूज्य-उपास्य तो सैकड़ों, हज़ारों, लाखों, करोड़ों हैं।

★ एक धर्म कहे कि ईश्वर न किसी की संतान है न उसके कोई संतान है। दूसरा धर्म कहे कि ईश्वर के एक 'बेटा' भी है। बेटा होने के नाते वह ईश्वरत्व में ईश्वर का साझी-शरीक है जबकि पहला धर्म कहे कि ईश्वर के ईश्वरत्व में कोई साझी-शरीक है ही नहीं।

★ एक धर्म कहे कि ईशपरायण जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति मरने के बाद स्वर्ग में जाएगा और विपरीत चरित्र का आदमी नरक में। दूसरा धर्म कहे कि नहीं, अमुक शख़्सियत को 'ईश्वर का पुत्र' मान लेने से ही आदमी

स्वर्ग में चला जाएगा चाहे उसने कितने ही पाप, अन्याय, अत्याचार, व्यभिचार किए हों।

★ एक धर्म कहे कि 'पूज्य' केवल ईश्वर है, उसके अतिरिक्त और कोई नहीं, कदापि नहीं। दूसरा धर्म कहे कि नहीं, माता-पिता भी पूज्य हैं, गुरु भी पूज्य, धरती भी पूज्य, पशु भी पूज्य, नदी, पहाड़, वृक्ष, साँप भी पूज्य, और ऋषि, मुनि, महापुरुष, धर्माचार्य सारे पूज्य, यहां तक कि काम करने के औज़ार भी पूज्य हैं।

★ एक धर्म कहे कि पुरुष किसी पराई स्त्री (जो पत्नी न हो) के शरीर को (यौन-वासना से) स्पर्ष भी करे तो वह परलोक में नरक की यातना व प्रताड़ना झेलेगा। दूसरा धर्म कहे कि दम्पत्ति को पुत्र न होता हो तो पति अपनी पत्नी को किसी दूसरे पुरुष के पास भेज सकता है जिससे उसकी पत्नी 'गर्भधारण' तक संभोग ('नियोग') करे। इसे सामाजिक व नैतिक मान्यता भी प्राप्त होगी।

★ एक धर्म शराब, जुआ को अवैध व वर्जित करे; दूसरे धर्मों में जुआ, शराब वैध हों।

★ एक धर्म कहे कि ईश्वर निराकार है। वह कभी भी, किसी कारण भी, किसी उद्देश्य से भी किसी भी प्रकार का आकार व शरीर धारण नहीं करता। मनुष्यों को मार्गदर्शन के लिए वह मनुष्यों में से ही किसी उचित व्यक्ति को चुन कर और उनके मार्गदर्शन के लिए माध्यम-स्वरूप उसे अपना सन्देष्टा, दूत (पैग़म्बर, रसूल, नबी) नियुक्त करता रहा है। दूसरा धर्म कहे कि वह सन्देष्टा, दूत, महापुरुष (ऋषि), साकार रूप में 'स्वयं ईश्वर' होता है जो मानव-शरीर धारण करके पृथ्वी पर अवतरित होता रहा है। इसके अलावा अनेक अन्य जीवधारियों का शरीर धारण करके भी अवतरित होता रहा है।

★ एक धर्म कहे कि मृत्यु-पश्चात् स्वर्ग नरक भी है और पुनर्जन्म व आवागमन भी (जबकि दोनों मान्यताएँ परस्पर विरोधी भी हों), और दूसरा धर्म कहे कि नहीं, मृत्यु के पश्चात् (पुनर्जन्म नहीं) केवल पुनरुज्जीवन होगा। परलोक में यह 'पुनःजीवन' या तो स्वर्ग में बीतेगा या नरक में।

★ एक धर्म कहे कि सारे मनुष्य, मनुष्य की हैसियत में बराबर हैं, उनमें कोई भी जन्मजात ऊँचा-नीचा, श्रेष्ठ-तुच्छ नहीं। दूसरा धर्म कहे कि नहीं, मनुष्यों में जन्मजात (नस्ली) ऊँच-नीच है, यह कभी समाप्त नहीं होता।

★ एक धर्म कहे कि उसका मूलग्रंथ शुद्ध एवं पूर्णरूपेण ईश्वरीय ग्रंथ है, दूसरा धर्म कहे कि उसका ग्रंथ मानव-कृत है, या मानवीय हस्तक्षेप और संशोधन-परिवर्तन से रहित नहीं है फिर भी वह 'ईश-वाणी', ईशग्रंथ ही है। तीसरा धर्म कहे कि उसके ग्रंथ के ईशग्रंथ होने के कोई प्रमाण नहीं हैं। कौन-सा/कौन-से ग्रंथ धर्म के मूलग्रंथ हैं यह भी सर्वमान्य रूप से निश्चित नहीं। और वस्तुस्थिति यह हो कि सभों में परस्पर भी विरोधाभास है और उनमें से प्रमुख ग्रंथों में आंतरिक विरोधाभास भी।

निष्कर्ष

उपरोक्त सूची काफ़ी दीर्घ हो सकती है। लेकिन संक्षिप्त सूची से भी यह तथ्य तो स्पष्ट और निश्चित रूप से सामने आ जाता है कि इतनी विषमताओं, अन्तर, मतभेद और विरोधाभास के होते हुए सारे धर्म न एक समान हो सकते हैं, न सत्य धर्म हो सकते हैं, न एक ही मंज़िल (Destination) पर अपने अनुयायियों को पहुँचा सकते हैं। इनमें से सिर्फ़ कोई एक ही, 'सत्य-धर्म' है।

सत्य-धर्म की खोज

एक बड़े असमंजस्य से उबरने, एक बड़ी उलझन के सुलझने के बाद मनुष्य के सामने केवल एक विकल्प रह जाता है : इस बात की खोज कि 'सत्य-धर्म' फिर है कौन-सा? लेकिन इस खोज का आधार क्या हो, जो हर मानव-आत्मा के लिए संतोषजनक हो! इसका एक आधार है जो बुद्धि-विवेक को संतुष्ट भी करता है।

विश्व में चार प्रमुख धर्म प्रचलित हैं। यहूदी धर्म, ईसाई धर्म, सनातन धर्म और इस्लाम धर्म। इन सब के अपने-अपने धर्मग्रंथ और धर्मशास्त्र हैं। इनमें से प्रत्येक की वे धारणाएं, अवधारणाएँ, मान्यताएँ एकत्र कर ली जाएँ जो सब में समान (Common) हों। अर्थात् उनमें परस्पर कोई मतभेद, विरोधाभास न हो। फिर यह देखा जाए कि वह किस धर्म का ग्रंथ/शास्त्र है जिसमें यह सारी धारणाएँ, अवधारणाएँ और मान्यताएँ समग्रता के साथ इस प्रकार मौजूद हैं कि उस धर्म के ग्रंथों/ग्रंथ में उन समान (Common) बातों के विरुद्ध व विपरीत कोई बात न हो। वो समान बातें, जो सामने आएँगी ये हैं :

(1) 'एकेश्वरवाद', जो विशुद्ध है, अर्थात् जिसके अनुसार पूज्य, उपास्य 'मात्र एक ईश्वर' है, उसके सिवाय कोई अन्य नहीं, न पूजा-उपासना में कोई

उसका साझी शरीक है।

(2) 'परलोकवाद', इस धारणा के अनुसार, मृत्यु-पश्चात जीवन है जिसमें, इस जीवन के कर्मों के अनुसार या तो 'स्वर्ग' मिलेगा, या 'नरक'।

इस प्रक्रिया के पूरा होने के साथ ही 'सत्य धर्म की खोज' पूरी हो जाएगी।

इस खोज का परिणाम यह सामने आएगा कि वह सत्य-धर्म 'इस्लाम' है क्योंकि यही 'समान' (Common) बातें इस्लाम की मूल धारणाएँ हैं और इसमें इन धारणाओं के विपरीत व विरुद्ध कुछ भी नहीं है। यही कारण है कि इस्लाम "सारे धर्म सत्य हैं" की एक अवास्तविक व अस्वाभाविक विचारधारा को नकारते, और एक भ्रामक स्थिति का निवारण करते हुए, स्वयं को ही 'सत्य-धर्म' कहता है। उसका यह दावा बुद्धि-विवेक, तर्क और आधुनिक अन्वेषण की कसौटी पर खरा, पूरा और संतोषजनक सिद्ध होता है। इस्लाम का यह दृष्टिकोण बौद्धिक व साइंटिफ़िक मानदंड के सर्वथा अनुकूल व तर्कसंगत है कि 'सर्व-धर्म-समन्वय', 'सर्व-धर्म-समभाव', 'सर्व-धर्म-एकता' (Unity, Equality or Amalgamation of Diverse and Differing Religions) की विचारधारा उचित नहीं है बल्कि 'धर्म का ऐक्य' (Oneness of Religion) उचित विचारधारा है; बिल्कुल वैसे ही, जैसे वह 'ईश्वर के ऐक्य' (Oneness of God), और 'मानवजाति के ऐक्य' (Oneness of Mankind) का पक्षधर और आह्वाहक है।

'धर्म' को कैसा होना चाहिए?

मानव प्राणी चूँकि 'शरीर' और 'आत्मा' के समन्वय से अस्तित्व पाता है तथा उसके व्यक्तित्व में ये दोनों पहलू अविभाज्य (Inseparable) हैं इसलिए धर्म ऐसा होना चाहिए जो उसके भौतिक व सांसारिक तथा आध्यात्मिक व नैतिक जीवन-क्षेत्रों में संतुलन व सामंजस्य के साथ अपनी भूमिका निभा सके। (इस्लाम के सिवाय अन्य) धर्मों तथा उनकी अनुयायी क़ौमों का इतिहास यह रहा है कि धर्म ने पूजा-पाठ, पूजा-स्थल, पूजागृह और कुछ सीमित धार्मिक रीतियों तक तो अपने अनुयायियों का साथ दिया, या ज़्यादा से ज़्यादा कुछ मानवीय मूल्यों और कुछ नैतिक गुणों की शिक्षा देकर कुछ चरित्र-निर्माण, और कुछ समाज-सेवा में अग्रसर कर दिया। इसके बाद, इससे आगे मानवजाति की विशाल, वृहद्, बहुआयामी, बहुपक्षीय, व्यापक जीवन-व्यवस्था में धर्म ने अपने

अनुयायियों और अनुयायी क़ौमों का साथ छोड़ दिया। यही बात इस विडंबना क़ा मूल कारण बन गई कि धर्म को व्यवस्था से, व्यवस्था को धर्म से बिल्कुल ही अलग, दूर कर दिया गया। यह अलगाव इतना प्रबल और भीषण रहा कि 'धर्म' और 'व्यवस्था' एक-दूसरे के प्रतिरोधी, प्रतिद्वंद्वी, शत्रु-समान बन गए। अतः 'व्यवस्था' के संदर्भ में धर्म-विमुखता, धर्म-निस्पृहता, धर्म-उदासीनता यहाँ तक कि धर्म-शत्रुता पर भी आधारित एक "आधुनिक धर्म" 'सेक्युलरिज़्म' का आविष्कार करना पड़ा। इस नए "धर्म" ने पुकार-पुकार कर, ऊँचे स्वर में कहा कि (ईश्वरीय) धर्म को सामूहिक जीवन (राजनीति, न्यायपालिका, कार्यपालिका, प्रशासन, अर्थव्यवस्था, शैक्षणिक व्यवस्था आदि) से बाहर निकाल कर, वहाँ मात्र इसी "नए धर्म" (सेक्युलरिज़्म) का अधिपत्य स्थापित होना चाहिए। इस प्रकार धर्मों की विभिन्नता की सीमितताओं और कमज़ोरियों के परिणामस्वरूप मानव के अविभाज्य व्यक्तित्व को दो अलग-अलग हिस्सों में विभाजित कर दिया गया। "व्यक्तिगत पूजा-पाठ में तो ईश्वरवादी, धार्मिक रहना चाहो तो रहो, परन्तु इस दायरे से बाहर निकल कर सामूहिक व्यवस्था में क़दम रखने से पहले, ईश्वर और अपने धर्म को अपने घर में ही रख आओ" का मंत्र उपरोक्त 'नए धर्म' का 'मूल-मंत्र' बन गया।

यह त्रासदी (Tragedy) इस वजह से घटित हुई कि धर्म, जो सामने था, 'एक' से 'अनेक' में टूट-बिखर चुका था, विरोधाभास का शिकार हो चुका था जातियों, नस्लों, राष्ट्रीयताओं आदि में जकड़ा जा चुका था अतः अपनी प्रबल व प्रभावकारी विशेषताएँ और गुण (सक्षमता, सक्रियता, प्रभावशीलता, उपकारिता, कल्याणकारिता आदि) खो चुका था। इस कारणवश उसे, ईश्वरीय धर्म को हटाकर उसकी जगह पर विराजमान हो जाने वाले ईश-उदासीन 'नए क्रांतिकारी धर्म' (सेक्युलरिज़्म) के आगे घुटने टेक देने ही थे। इसके बड़े घोर दुष्परिणाम मानव-जाति को झेलने पड़े और झेलने पड़ रहे हैं। उपद्रव, हिंसा, रक्तपात, शोषण, अन्याय, अत्याचार, व्यभिचार, नशाख़ोरी, शराबनोशी, अपराध, बलात्कार, नरसंहार, भ्रष्टाचार, रिश्वत, लूट-पाट, डकैती, चोरी, ग़बन, घोटाले, स्कैम, अपहरण, नग्नता, अभद्रता, अश्लीलता, यौन-अपराध, हत्या आदि का एक सैलाब है जिस पर बांधे जाने वाला हर बाँध टूट जाता है। इसे मरम्मत करने की जितनी कोशिशें की जाती हैं, उन्हें असफल बनाकर, यह सैलाब पहले से भी ज़्यादा तबाही मचाता, फैलता, आगे बढ़ता-चढ़ता चला जा रहा है।

इस्लाम की विशिष्टता

इस्लाम उपरोक्त अन्य धर्मों के 'समान' नहीं है। इसमें वह कमज़ोरियाँ, सीमितताएँ नहीं हैं जो अन्य धर्मों के हवाले से ऊपर बयान की गईं। यह न मनुष्य को 'आध्यात्मिकता व धार्मिकता' और 'भौतिकता व सांसारिकता' के कोष्ठों में बाँटता है न समाज व सामूहिक व्यवस्था को। इसमें हर बात, हर मामला, हर गतिविधि, हर जीवन-क्षेत्र, ईश्वरीय-धर्म में समाहित है। यह किसी भी छोटे-बड़े मामले या समस्या में न इन्सान को अकेला छोड़ देता है, न समाज को निःसहाय, और न सामूहिक व्यवस्था को बेसहारा। इन्सानों का पूर्ण मार्गदर्शन करने में, हर समय हर परिस्थिति में इन्सानों के साथ रहने, साथ देने, सहायक व सहयोगी बनने में तथा उनकी जटिल समस्याओं का समाधान करने में एक 'ईश्वरीय सत्य-धर्म' को जितना जागरूक, सतर्क, सक्षम, क्रियान्वित, तत्पर और अग्रसर होना अभीष्ट हो सकता है, इस्लाम ठीक वैसा ही है। फिर बुद्धिमानी व सत्यवादिता यह कहने में नहीं है कि "सारे धर्म एक समान हैं।"

व्यावहारिक पुष्टिकरण

अगर यह बात सिर्फ़ कहने की हद तक ही नहीं, बल्कि सचमुच सत्य होती कि सारे धर्म समान रूप से 'सत्य' हैं तो फिर ऐसा होना चाहिए था कि धर्म परिवर्तन पर वह व्याकुलता, रोष, क्रोध और कड़ा रुख़ न दर्शाया जाता जो किसी धर्म के अनुयायी, अपने धर्म के किसी व्यक्ति के धर्मान्तरण पर दर्शाया करते हैं। जब एक व्यक्ति 'सत्य' से 'सत्य' ही की ओर प्रस्थान करता है और हर अवस्था में सत्य के अंतर्गत ही रहता है तो फिर इस पर रोष व क्रोध का क्या औचित्य? इससे इस तथ्य का व्यावहारिक पुष्टिकरण भी हो जाता है कि सर्वधर्म समभाव के पक्षधर लोग, स्वयं भी यह मानते हैं कि 'सारे धर्म समान नहीं हैं, सत्य नहीं हैं।'

यहाँ यह बात स्पष्ट कर देना ज़रूरी महसूस होता है कि इस्लाम सभी प्रचलित धर्मों में एकसमानता, समभाव व समन्वय आदि की अस्वाभाविक नीति अपनाने और अव्यवहारणीय शिक्षा देने के बजाय, सभी धार्मिक समुदायों (Religios Communities) में इन्सानियत और मानवीय मूल्यों के आधार पर दया, सौहार्द्र (Harmony), इन्सानी भाईचारा, सहिष्णुता, इन्साफ़, न्याय, परोपकार, सहायता तथा भले कामों में परस्पर सहयोग की शिक्षा देता है।

कुरबानी–हिंसा, हत्या, निर्दयता?

"इस्लाम में मांसाहार, और इसके लिए जानवरों की हत्या का प्रावधान हिंसात्मक तथा निर्दयतापूर्ण है इससे मुसलमानों में हिंसक प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। ईद-उल-अज़्हा के अवसर पर पशु-बलि (कुरबानी) की सामूहिक रीति में यह निर्दयता व्यापक रूप धारण कर लेती है। क्या यह वही इस्लाम है जिसका ईश्वर 'अति दयावान' है? यह कैसा दयाभाव, कैसी दयाशीलता है?"
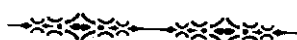
इस विषय के कई पहलू हैं। उन सब पर दृष्टि डालने से उपरोक्त आपत्तियों के निवारण, और उलझनों के सुलझने में आसानी होगी।

हिंसा, जीव-हत्या

जीव-हत्या, अपने अनेक रूपों में एक ऐसी हक़ीक़त है जिससे मानवता का इतिहास कभी भी ख़ाली नहीं रहा। व्यर्थ व अनुचित व अन्यायपूर्ण जीव-हत्या से आमतौर पर तो लोग हमेशा बचते रहे हैं क्योंकि यह मूल-मानव प्रवृत्ति तथा स्वाभाविक दयाभाव के प्रतिकूल है लेकिन जीवधारियों की हत्या भी इतिहास के हर चरण में होती रही है क्योंकि बहुआयामी जीवन में यह मानवजाति की आवश्यकता रही है। इसके कारक सकारात्मक भी रहे हैं, जैसे आहार, औषधि तथा उपभोग के सामानों की तैयारी व उपलब्धि; और नकारात्मक भी रहे हैं, जैसे हानियों, ख़तरों और बीमारियों से बचाव।

पशुओं, पक्षियों, मछलियों आदि की हत्या आहार के लिए भी की जाती रही है, औषधि-निर्माण के लिए भी, और उनके शरीर के लगभग सारे अंगों एवं तत्वों से इन्सानों के उपभोग व इस्तेमाल की वस्तुएं बनाने के लिए भी। बहुत सारे पशुओं, कीड़ों-मकोड़ों, मच्छरों, सांप-बिच्छू आदि की हत्या, तथा शरीर व स्वास्थ्य के लिए हानिकारक जीवाणुओं (बैक्टीरिया, जर्म्स, वायरस आदि) की हत्या, उनकी हानियों से बचने-बचाने के लिए की जानी, सदा से सर्वमान्य, सर्वप्रचलित रही है। वर्तमान युग में ज्ञान-विज्ञान की प्रगति के व्यापक व सार्वभौमिक वातावरण में, औषधि-विज्ञान में शोधकार्य के लिए तथा

शल्य-क्रिया-शोध व प्रशिक्षण (Surgical Research and Training) के लिए अनेक पशुओं, पक्षियों, कीड़ों-मकोड़ों, कीटाणुओं, जीवाणुओं आदि की हत्या की जाती है।

ठीक यही स्थिति वनस्पतियों की 'हत्या' की भी है। जानदार पौधों को काटकर अनाज, ग़ल्ला, तरकारी, फल, फूल आदि वस्तुएं आहार व औषधियां और अनेक उपभोग-वस्तुएं तैयार करने के लिए इस्तेमाल की जाती हैं पेड़ों को काटकर (अर्थात् उनकी 'हत्या' करके, क्योंकि उनमें भी जान होती है) उनकी लकड़ी, पत्तों, रेशों (Fibres), जड़ों आदि से बेशुमार कारआमद चीज़ें बनाई जाती हैं। इन सारी 'हत्याओं' में से कोई भी हत्या 'हिंसा', 'निर्दयता', 'क्रूरता' की श्रेणी में आज तक शामिल नहीं की गई, उसे दयाभाव के विरुद्ध व प्रतिकूल नहीं माना गया। कुछ नगण्य अपवादों (Negligible exceptions) को छोड़कर (और अपवाद तो मानव-समाज में हमेशा पाए जाते रहे हैं) सामान्य रूप से व्यक्ति, समाज, समुदाय या धार्मिक सम्प्रदाय, जाति, क़ौम, सभ्यता, संस्कृति, धर्म, ईशवादिता आदि किसी भी स्तर पर जीव-हत्या के उपरोक्त रूपों, रीतियों एवं प्रचलनों का खण्डन व विरोध नहीं किया गया। बड़ी-बड़ी धार्मिक विचारधाराओं और जातियों में इस 'जीव-हत्या' के हवाले से ईश्वर के 'दयावान' व 'दयाशील' होने पर प्रश्न नहीं उठाए गए, आक्षेप नहीं किए गए, आपत्ति नहीं जताई गई।

भारतीय परम्परा में जीव-हत्या, मांसाहार और पशु-बलि

विषय-वस्तु पर इस्लामी दृष्टिकोण और मुस्लिम पक्ष से चर्चा करने से पहले उचित महसूस होता है कि स्वयं भारतीय परम्परा पर (आलोचनात्मक, नकारात्मक व दुर्भावनात्मक दृष्टि नहीं, बल्कि) एक तथ्यात्मक (Objective) नज़र भी डाल ली जाए।

● **मनुस्मृति** को 'भारतीय धर्मशास्त्रों में सर्वोपरि शास्त्र' होने का श्रेय प्राप्त है। इसके मात्र एक (पांचवें) अध्याय में ही 21 श्लोकों में मांसाहार (अर्थात् जीव-हत्या) से संबंधित शिक्षाएं, नियम और आदेश उल्लिखित हैं। रणधीर प्रकाशन हरिद्वार से प्रकाशित, पण्डित ज्वाला प्रसाद चतुर्वेदी द्वारा अनूदित प्रति (छठा मुद्रण, 2002) में 5:17-18; 5:21-22; 5:23; 5:27-28; 5:29-30; 5:31-32; 5:35-36; 5:37-38; 5:39; 5:41-42; 5:43-44; 5:56 में ये

बातें देखी जा सकती हैं। इनका सार निम्नलिखित है :

1. ब्रह्मा ने मांस को प्राण के लिए अन्न कल्पित किया है। अन्न, फल, पशु, पक्षी आदि प्राण के ही भोजन हैं। ब्रह्मा ने ही खाद्य और खादक दोनों का निर्माण किया है। स्वयं ब्रह्मा ने यज्ञों की समृद्धि के लिए पशु बनाए हैं इसलिए यज्ञ में पशुओं का बध अहिंसा है।

2. भक्ष्य (मांसाहार-योग्य) कुछ पशुओं के नाम बताए गए हैं। और कहा गया है कि सनातन विधि को मानते हुए संस्कार द्वारा शुद्ध किया हुआ पशु-मांस ही खाना चाहिए।

3. वेद-विदित और इस चराचर जगत में नियत हिंसा को अहिंसा ही समझना चाहिए क्योंकि धर्म वेद से ही निकला है।

4. अगस्त्य मुनि के अनुपालन में ब्राह्मण यज्ञ के निमित्त यज्ञ, या मृत्यों के रक्षार्थ प्रशस्त, पशु-पक्षियों का वध किया जा सकता है। मनु जी के कथनानुसार मधुपर्क, ज्योतिष्टोमादि यज्ञ, पृतकर्म और देवकर्म में पशु हिंसा करना चाहिए। (श्राद्ध और मधुपर्क में तथा) विधि नियुक्त होने पर मांस न खाने वाला मनुष्य मरने के इक्कीस जन्म तक पशु होता है।

5. देवतादि के उद्देश्य बिना वृथा पशुओं को मारने वाला मनुष्य उन पशुओं के बालों की संख्या के बराबर जन्म-जन्म मारा जाता है।

● महाभारत, अनुशासन पर्व अध्याय 88 में पितामह भीष्म और धर्मराज युधिष्ठिर के बीच बातचीत के अनुसार :

"...श्राद्ध (मृत् पूर्वजों की सुख-शान्ति के अनुष्ठान) के समय मछली की भेंट दो माह तक, भेड़ का मांस तीन माह तक, ख़रगोश का मांस चार माह तक, बकरी का मांस पांच माह तक, सूअर का मांस छः माह तक, पक्षियों का मांस सात माह तक, प्रिष्टा हिरन का मांस आठ माह तक, रूरू हिरन का मास नौ माह तक, गवय का मांस दस माह तक, भैंस का मांस ग्यारह माह तक, गाय का मांस एक वर्ष तक, बड़े बैल बधरीनासा का मांस बारह वर्ष तक, चान्द्र वर्ष के अनुसार पूर्वजों के मृत्यु वर्ष पर भेंट किए जाने वाले गैंडे का मांस सदा के लिए उन्हें सुख-शांति में रखता है। उनके अनन्त सुख-शांति के लिए लाल बकरी का मांस भेंट करना चाहिए।" (संक्षिप्तीकृत उद्धरण)

ऐसी ही शिक्षा मनुस्मृति 3:268, 269, 270, 271 में भी उल्लिखित है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि :

i) आहार के लिए मांस खाया जा सकता है।

ii) यज्ञ के लिए, श्राद्ध के लिए, और देवकर्म में, पशु-हिंसा करनी चाहिए, यह वास्तव में अहिंसा है।

iii) पशुओं का, ईश-निर्धारित विधि व उद्देश्यों के बिना वध करना पाप है।

iv) पशु-पक्षी और वनस्पतियां मनुष्य के आहार के लिए ही निर्मित की गई हैं।

यही कारण है कि (बौद्ध-कालीन अहिंसा-आन्दोलन के समय, और उसके पहले) वैदिक सनातन धर्म में मांसाहार और यज्ञों के लिए पशु-वध का प्रचलन था। धर्म इसका विरोधी नहीं, बल्कि समर्थक व आह्वाहक था।

इस्लाम का पक्ष

मनुस्मृति, वेद, महाभारत, सनातन विधि और वैदिक काल के उपर्लिखित हवाले, मांसाहार, जीव-हत्या और क़ुरबानी (पशु-बलि) के इस्लामी पक्ष के पुष्टीकरण में दलील व तर्क के तौर पर प्रस्तुत नहीं किए गए हैं। इस्लाम एक प्राकृतिक व शाश्वत धर्म के रूप में, अपने आप में संपूर्ण, तर्कपूर्ण, विश्वसनीय (Authentic) है। उपरोक्त बातें विषय-वस्तु को समझने में उन देशबन्धुओं की आसानी के लिए लिखी गई हैं जो अनजाने में इस्लाम पर आक्षेप करते समय यह ध्यान नहीं रख पाते कि वे इस आक्षेप के साथ ही परोक्ष रूप से एक ओर तो एक आदि-धार्मिक सत्य का इन्कार भी कर रहे होते हैं, और दूसरी ओर स्वयं अपने (सनातन हिन्दू) धर्म के ग्रंथों और उनमें उल्लिखित शिक्षाओं, धारणाओं तथा मान्यताओं पर आक्षेप भी।

इस्लाम का दृष्टिकोण इस विषय में संक्षिप्त रूप से यूं है :

❖ भूमण्डल, वायुमण्डल, सौर्यमण्डल की हर (जीव-अजीव, चर-अचर) वस्तु मनुष्यों की सेवा/आहार/उपभोग/स्वास्थ्य/ जीवन के लिए निर्मित की गई है।

❖ किसी भी जीवधारी की व्यर्थ व अनुद्देश्य हत्या अवैध (Prohibitted) है, और सोद्देश्य (Purposeful) हत्या वैध (Permissible)।

मुस्लिम पक्ष

कुरबानी, ईशमार्ग में यथा-अवसर आवश्यकता पड़ने पर अपना सब कुछ कुरबान (Sacrifice) कर देने की भावना का व्यावहारिक प्रतीक (Symbol) है। इसकी शुरुआत लगभग 4000 वर्ष पूर्व हुई थी जब ईशदूत पैग़म्बर इब्राहीम (अलैहिस्सलाम) से अल्लाह ने उनकी ईशपरायणता की परीक्षा लेने के लिए आदेश दिया था कि अपनी प्रियतम चीज़—बुढ़ापे की सन्तान, पुत्र इस्माईल की बलि दो। इब्राहीम (अलैहि॰) बेटे की गर्दन पर छुरी फेरने को थे कि ईशवाणी हुई कि, बस तुम परीक्षा में उत्तीर्ण हो गए। बेटे की बलि अभीष्ट न थी, अतः (बेटे की बलि के प्रतिदान-स्वरूप) एक दुम्बे (भेड़) की बलि दे दो, यही काफ़ी है (सारांश कुरआन, 37:101-107)। तब से आज तक उसी तिथि (10 ज़िलहिज्जा) को, पशु-बलि (कुरबानी) देकर मुस्लिम समाज के (कुरबानी के लिए समर्थ) सारे व्यक्ति, प्रतीकात्मक रूप से ईश्वर से अपने संबंध, वफ़ादारी और संकल्प को हर वर्ष ताज़ा करते हैं कि "हे ईश्वर! तेरा आदेश होगा, आवश्यकता होगी, तक़ाज़ा होगा तो हम तेरे लिए अपनी हर चीज़ कुरबान करने के लिए तैयार व तत्पर हैं।" और यही ईशपरायणता की पराकाष्ठा, ईशप्रेम का उत्कर्ष, ईशाज्ञापालन का चरम-बिन्दु है।

मुसलमानों की 'हिंसक प्रवृत्ति' (?)

जहां तक मांसाहार और पशु-हत्या की वजह से मुसलमानों में हिंसक प्रवृत्ति उत्पन्न होने की बात है तो पिछले आठ नौ दशकों से अब तक का इतिहास इस बात का स्पष्ट व अकाट्य खण्डन करता है। विश्व में मुस्लिम जनसंख्या लगभग 20-25 प्रतिशत, और भारत में (पिछले 60-62 वर्षों के दौरान) लगभग 15 प्रतिशत रही है। इस समयकाल में दो महायुद्धों और अनेक छोटे-छोटे युद्धों में हुई हिंसा में मुसलमानों का शेयर 0 प्रतिशत रहा है और तीन अन्य बड़े युद्धों में अधिक से अधिक 2-5 प्रतिशत और भारत के हज़ारों दंगों में ज़्यादा से ज़्यादा 2 प्रतिशत, कई नरसंहारों (Mass Kilkings) में 0 प्रतिशत। हमारे देश में पूरब से दक्षिण तक, तथा अति दक्षिण में हिन्द महासागर में स्थित एक छोटे से देश में, लंबे समय से कुछ सुसंगठित, सशस्त्र गुटों और सुनियोजित भूमिगत संगठनों द्वारा चलाई जा रही हिंसा की चक्की में लाखों निर्दोष लोग और आबादियों की आबादियां पिस्ती, मरती रही हैं।

इनमें कोई भी मुस्लिम गुट या संगठन नहीं है। राष्ट्रपिता और दो प्रधानमंत्रियों के हत्यारे, मुसलमान नहीं थे।

हिंसा में दरिन्दों, राक्षसों से भी आगे कौन?

हिंसक प्रवृत्ति में जो लोग दरिन्दों, शैतानों और राक्षसों को भी बहुत पीछे छोड़ गए, हज़ारों इन्सानों को (यहां तक कि मासूम बच्चों को भी) ज़िन्दा, (लकड़ी की तरह) जलाकर उनके शरीर कोयले में बदल दिए और इस पर ख़ूब आनन्दित व मग्न विभोर हुए, गर्भवती स्त्रियों के पेट चीर कर बच्चों को निकाला, स्त्री को जलाया, और बच्चे को भाले में गोंध कर ऊपर टांगा और ताण्डव नृत्य किया, वे मुसलमान नहीं थे।

अगर औरतों के साथ ऐसे अत्याचार व अपमान को भी हिंसा के दायरे में लाया जाए, जिसकी मिसाल मानवजाति के पूरे विश्व इतिहास में नहीं मिलती तो यह बड़ी अद्भुत, विचित्र अहिंसा है कि पशु-पक्षियों के प्रति ग़म का तो प्रचार-प्रसार किया जाए, और दूसरी तरफ़ इन्सानों के घरों से औरतों को खींचकर निकाला जाए, बरसरे आम उनसे बलात् कर्म किया जाए, वस्त्रहीन करके सड़कों पर उनका नग्न परेड कराया जाए, घसीटा जाए, उनके परिजनों और जनता के सामने उनका शील लूटा जाए। नंगे परेड की फिल्म बनाई जाए, और गर्व किया जाए! ऐसी मिसालें 'हिंसक प्रवृत्ति' वाले मुसलमानों ने कभी भी क़ायम नहीं की हैं। उनकी इन्सानियत व शराफ़त और उनका विवेक और धर्म उन्हें कभी ऐसा करने ही नहीं देगा। ऐसी 'गर्वपूर्ण' मिसालें तो उन पर हिंसा का आरोप लगाने वाले कुछ विशेष 'अहिंसावादियों' और 'देशभक्तों' ने ही हमारे देश की धरती पर बार-बार स्थापित हैं।

❖❖

‘काबा’ : ‘मूर्तिपूजा’ का प्रतीक?

“इस्लाम स्वयं को मूर्तिपूजा का विरोधी धर्म कहता है लेकिन मुसलमान नमाज़ पढ़ते समय काबा की ओर मुंह कर लेते हैं। हज में, काबा में लगे काले पत्थर की भी पूजा करते हैं। यह मूर्ति-पूजा नहीं तो और क्या है? मूर्ति-पूजक लोग भी तो मूर्तियों को सामने रखकर, वास्तव में ईश्वर की ही उपासना करते हैं।”
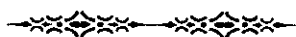
ईश-पूजा—विशुद्ध एकेश्वरवाद

भारतीय धर्म-परंपरा में कोई ‘ईश्वर का मन्दिर’ नहीं होता जिसमें ईश्वर की पूजा उपासना की जाती हो। यहां देवताओं, देवियों और अवतारों के नाम से स्थापित मन्दिर हैं जिनमें उनकी मूर्तियों को सामने रखकर उनकी पूजा की जाती है।

इस्लाम की विशुद्ध एकेश्वरवादी अवधारणा में सिर्फ़ ईश्वर की पूजा होती है। उस ईश्वर का न तो कोई अवतार होता है, न ही कोई देवी/देवता-स्वरूप। यहां मस्जिद के उपासना-गृह में निराकार ईश्वर की ही पूजा उपासना होती है। काबा की ओर केवल रुख़ किया जाता है ताकि पूरे विश्व में, मुसलमानों में नमाज़ पढ़ने के बारे में मुख-दिशा-निर्धारण में एकाग्रता व एकसमानता (Uniformity) स्थाई रूप से निश्चित रहे। काबा की हैसियत इससे ज़्यादा कुछ नहीं है। वह किसी देवी-देवता या अवतार का, न मूर्ति-स्वरूप है, न ईश्वर का प्रतिनिधित्व करता है। अपने अस्तित्व में वह पत्थरों का एक चौकोर ढांचा है जिसमें दीवारें हैं, छत है, दरवाज़ा है।

काबा के ढांचे के एक कोने पर एक काला पत्थर लगाया हुआ है। इस पत्थर को इस्लाम के पैग़म्बर ने चूमा था (इसकी पूजा नहीं की थी)। चूमने की इस क्रिया में कोई ईश-भावना न थी। अतः पैग़म्बर साहब के अनुकरण में आपके अनुयायी भी इसे चूमने लगे और यह क्रम आज तक जारी है। उस समय किसी के हृदय व मस्तिष्क में यह विचार (या शंका) लेशमात्र भी न था कि इस पत्थर में कोई ईश्वरीय गुण या शक्ति है और यह कोई लाभ या हानि

पहुंचा सकता है; यह ईश्वर का प्रतीक, प्रतिनिधि, या शरीक है अतः पूजा-रूप में इसे चूमा जाए।

पैग़म्बर साहब के देहावसान के दो वर्ष बाद, आपके दूसरे उत्तराधिकारी (ख़लीफ़ा) हज़रत उमर (रज़ि॰) के शासनकाल (634-645 ई॰) में आप (रज़ि॰) ने इस ख़्याल से कि कहीं आगे चलकर लोग अज्ञानतावश या भावुक होकर इस काले पत्थर को, पत्थर से 'कुछ अधिक' न समझने लगें, एक अवसर पर जनता के बीच, पत्थर के सामने खड़े होकर कहा : "तू एक पत्थर है, सिर्फ़ पत्थर। हम तुझे बस इस वजह से चूमते हैं कि हमने पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल॰) को तुझे चूमते हुए देखा था। इससे ज़्यादा तेरी कोई हैसियत, कोई महत्व हमारे निकट नहीं है। हमारा विश्वास है कि तू एक निर्जीव वस्तु, हमें न कोई फ़ायदा पहुंचा सकता है, न नुक़सान" (पूज्य व उपास्य होना तो दूर की बात, असंभव बात है)।

काबा और 'काला पत्थर' का इतिहास

प्रश्न उठता है कि फिर काबा और काला पत्थर है क्या? और इनका इस्लाम में महत्व क्या है? उत्तर के लिए संक्षेप में इनके इतिहास पर दृष्टि डालनी चाहिए। लगभग 4000 वर्ष पूर्व अल्लाह ने पैग़म्बर इब्राहीम (अलैहि॰) को आदेश दिया कि इस स्थान पर एक ढांचा बनाओ। उन्होंने अपने बेटे इस्माईल (अलैहि॰) के साथ मिलकर पत्थरों का ढांचा बना लिया। ईश्वर ने इसे 'अपना घर' (बैतुल्लाह) कहा और आदेश दिया कि यहां मेरे उपासना-स्वरूप नमाज़ पढ़ो और इसकी परिक्रमा (तवाफ़) करो। इसे 'एकेश्वरवाद का प्रतीक' क़रार दिया गया। यहां यह बात स्पष्ट रहे कि यह काबा का ढांचा 'ईश्वर का प्रतीक' नहीं था कि इसकी ओर मुख करके नमाज़ पढ़ना या इसकी परिक्रमा करना 'काबा की पूजा' माना जाता, बल्कि यह 'एकेश्वरवाद का प्रतीक' था; उस समय के, उसके बाद के और हमेशा के मुसलमानों को एकेश्वरवाद के इस केन्द्र से जोड़कर उन्हें एकेश्वरवाद पर एकाग्र, एकत्र व संगठित करने का प्रयोजन ईश्वर ने किया। तथा इसकी परिक्रमा इस बात का द्योतक व प्रतीक था कि मुस्लिमों का व्यक्तिगत व सामूहिक जीवन एकेश्वरवाद की धुरी पर इसी के चारों ओर घूमेगा, यानी ईश केन्द्रित व्यवस्थित व संगठित रहेगा।

लगभग ढाई हज़ार वर्ष तक यह क्रम चलता रहा, लेकिन अज्ञानता के

अंधेरे आए तो इस काबा में मूर्तियां रख दी गईं और एकेश्वरवाद का केन्द्र अनेकेश्वरवाद का केन्द्र बन गया। पैग़म्बर मुहम्मद साहब ने अपनी पैग़म्बरी के लगभग 21वें वर्ष इसे मूर्तियों से पाक, रहित कर दिया और इसकी 'एकेश्वरवाद का केन्द्र' होने की हैसियत को बहाल (Restore) कर दिया। यह स्थिति डेढ़ हज़ार वर्ष से क़ायम है। नगर मक्का में, विश्व भर के मुसलमान आम दिनों में प्रतिदिन और विशेषकर हज के दिनों में विशेष आयोजन के साथ इस काबा की परिक्रमा करते, इसकी दिशा में मुख करके ईश्वर अल्लाह की उपासना (नमाज़ अदा) करते हैं। इसके साथ ही, वे विश्व में कहीं भी हों, इसी काबा की ओर रुख़ करके ही नमाज़ पढ़ते हैं, इसी के अनुकूल दुनिया भर में हर जगह हर मस्जिद का निर्धारित दिशानुसार निर्माण होता है।

इतिहास के किसी चरण में मक्का के निवासियों को नगर के आसपास कहीं एक काला चमकदार पत्थर मिला। ऐसे पत्थर उस पहाड़ी क्षेत्र के पहाड़ों में कहीं भी नहीं पाए जाते थे। उन्होंने समझा कि यह स्वर्ग लोक से नीचे आया है। (संभवतः यह किसी उल्कापिण्ड (Meteorite) का टुकड़ा रहा होगा)। लोगों ने उसे धन्य और पवित्र समझ कर काबा के एक कोने पर लगा दिया और चूमने लगे। उस समय से, पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल॰) के समय तक उन मूर्तिपूजकों और अनेकेश्वरवादियों ने भी उस पत्थर की पूजा कभी नहीं की।

इस्लाम के आह्वान के साथ मूर्तिपूजा तथा अनेकेश्वरवाद (शिर्क, अर्थात् ईश्वर के साथ किसी को साझी, शरीक, समकक्ष बनाने) का खंडन किया जाने लगा। काले पत्थर को पूजने की परम्परा नहीं थी, लोग इसे केवल चूमते ही रहे थे इसलिए पैग़म्बर साहब ने लोगों की भावनाओं को अकारण छेड़ना उचित, लाभदायक व अनिवार्य न समझा बल्कि परम्परानुसार आप (सल्ल॰) भी उसे चूम लिया करते। आप ही के अनुसरण में मुसलमान उस काले पत्थर (हजर-ए-असवद) को डेढ़ हज़ार वर्ष से आज तक चूमते आ रहे हैं। इस धारणा और विश्वास के साथ कि "यह मात्र एक पत्थर है, इसमें कोई ईश्वरीय गुण या शक्ति नहीं, यह किसी को न कुछ फ़ायदा पहुंचा सकता है न नुक़्सान।"

❖❖

अज़ान–सम्राट 'अकबर' को पुकार?

''मुसलमान रोज़ पांच बार मस्जिदों से, ऊंची आवाज़ में अकबर बादशाह को क्यों पुकारते हैं? क्या इसलिए कि वे अपना भूतकालीन शासन-सत्ता वापस लाने की इच्छा रखते हैं?''
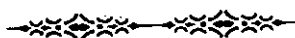
यह एक बड़ी ग़लतफ़हमी है जो अज़ान मे बोले जाने वाले शब्द 'अकबर' का अर्थ न जानने की वजह से पैदा हुई है। यह शब्द रोज़ाना पांच बार, मस्जिदों से ऊंची आवाज़ में 'अज़ान' के दौरान सुना जाता है। इस्लाम में 'नमाज़' नामक उपासना व्यक्तिगत रूप से की जाती है लेकिन इसका सामूहिक रूप से किया जाना वांछित और श्रेष्ठ व उत्तम बल्कि यदि परिस्थिति अनुकूल हो तो अनिवार्य क़रार दिया गया है। इस सामूहिकता के लिए दो बातों की प्राथमिक आवश्यकता है एक : निर्धारित जगह, और दो : लोगों को इकट्ठा करने का निश्चित उपाय। पहली ज़रूरत के लिए मुस्लिम समाज में मस्जिद बनाने की परंपरा बनी और इसे एक अनिवार्य और अत्यंत पुण्य कार्य माना गया। दूसरी ज़रूरत के लिए इस्लाम के बिल्कुल शुरू के दिनों में, पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल॰) की स्वीकृति व अनुमति से अज़ान की पद्धति धारण की गई। 'अज़ान' एक अरबी शब्द है, जिसका भावार्थ 'पुकार कर बताना' या 'घोषणा करना' है। अज़ान देकर लोगों को पुकारा, बताया, बुलाया जाता है कि नमाज़ का निर्धारित समय आ गया, सब लोग उपासना स्थल पर आ जाएं, जो मस्जिद भी हो सकती है, और अन्य कोई जगह भी।

'अकबर' (के अरबी) शब्द का अर्थ है 'बड़ा'। यह इस्लामी परिभाषा में ईश्वर अल्लाह की गुणवाचक संज्ञा (Attributive Noun) है। इस परिभाषा में अकबर का अर्थ होता है बहुत बड़ा, सबसे बड़ा। अज़ान के प्रथम बोल हैं : 'अल्लाहु अकबर' अर्थात अल्लाह बहुत बड़ा/सबसे बड़ा है। इसमें यह भाव निहित है कि अल्लाह के सिवाय दूसरों में जो भी, जैसी भी, जितनी भी बड़ाइयां पाई जाती हैं, वे ईश-प्रदत्त हैं और ईश्वर की महिमा व बड़ाई से बहुत छोटी, तुच्छ, अपूर्ण, अस्थायी, त्रुटियुक्त हैं। वास्तव में 'बड़ा' सिर्फ़ ईश्वर ही है।

यहां पूरी अज़ान के बोल उल्लिखित कर देना उचित महसूस होता है :

★ **अल्लाहु अकबर-अल्लाहु अकबर** (दो बार), अर्थात् 'अल्लाह सबसे बड़ा है।'

★ **अश्हदुअल्ला इलाह इल्लअल्लाह** (दो बार), अर्थात् 'मैं गवाही देता हूं कि अल्लाह के सिवाय कोई पूज्य, उपास्य नहीं।'

★ **अश्हदुअन्न मुहम्मदुर्रसूलुल्लाह** (दो बार), अर्थात् 'मैं गवाही देता हूं कि (हज़रत) मुहम्मद (सल्ल॰) अल्लाह के रसूल (दूत, प्रेषित, संदेष्टा, नबी, Prophet) हैं।'

★ **हय्या अ़लस्-सलात** (दो बार), अर्थात् '(लोगो) आओ नमाज़ के लिए।'

★ **हय्या अ़लल-फ़लाह** (दो बार), अर्थात् '(लोगो) आओ भलाई और सुफलता के लिए।'

★ **अस्सलातु ख़ैरुम्-मिनन्नौम** (दो बार, सिर्फ़ सूर्योदय से पहले वाली नमाज़ की अज़ान में), अर्थात् 'नमाज़ नींद से बेहतर है।'

★ **अल्लाहु अकबर-अल्लाहु अकबर** (एक बार), अर्थात् 'अल्लाह सबसे बड़ा है।'

★ **ला-इलाह-इल्लअल्लाह** (एक बार), अर्थात् 'कोई पूज्य, उपास्य नहीं, सिवाय अल्लाह के।'

अज़ान यद्यपि 'सामूहिक नमाज़ के लिए बुलावा' है, फिर भी इसमें एक बड़ी हिकमत यह भी निहित है कि 'विशुद्ध एकेश्वरवाद' की निरंतर याद दिहानी होती रहे, इसका सार्वजनिक एलान होता रहे। हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) के ईशदूतत्व के लगातार दिन प्रतिदिन एलान के साथ यह ईमान, विश्वास, और संकल्प ताज़ा होता रहे कि कोई भी मुसलमान (और पूरा मुस्लिम समाज) मनमानी जीवनशैली अपनाने के लिए आज़ाद नहीं है बल्कि हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) के आदर्श के अनुसार एक सत्यनिष्ठ, नेक, ईशपरायण जीवन बिताना उसके लिए अनिवार्य है।

अकबर बादशाह का इतिहास सिर्फ़ चार सौ साल पुराना है। अज़ान के ये बोल 1430 वर्ष पुराने हैं। भारत में ही नहीं, पूरी दुनिया में नमाज़ियों को मस्जिद में बुलाने के लिए लगभग डेढ़ हज़ार साल से निरंतर यह आवाज़

लगाई जाती रही है। यह आवाज़ इस्लामी शरीअत के अनुसार, सिर्फ़ उसी वक़्त लगाई जा सकती है, जब नमाज़ का निर्धारित समय आ गया हो। यह समय है :

★ सूर्योदय से घंटा-डेढ़ घंटा पहले। (फ़ज्र की नमाज़)

★ दोपहर, सूरज ढलना शुरू होने के बाद। (ज़ुहर की नमाज़)

★ सूर्यास्त से लगभग डेढ़-दो घंटे पहले। (अस्र की नमाज़)

★ सूर्यास्त के तुरंत बाद। (मग़रिब की नमाज़)

★ सूर्यास्त के लगभग दो घंटे बाद। (इशा की नमाज़)

कभी-कभी ऐसा भी होता देखा गया है कि हमारे (धर्म प्रधान) देश भारत में, और यूरोप के किसी एक देश में भी, कुछ लोग अज़ान की आवाज़ पर सख़्त एतिराज़ करते हैं। यह बात विश्वास के साथ कही जा सकती है कि एतिराज़ करनेवाले भाइयों में से ज़्यादातर लोग, ऐसा सिर्फ़ अज्ञानतावश करते हैं। क्योंकि वे अज़ान के शब्दों का अर्थ नहीं जानते। अज़ान के बोलों के उपर्लिखित अर्थ से साफ़ ज़ाहिर होता है कि ये बोल न किसी समुदाय के स्वार्थ में बोले जाते हैं न किसी समुदाय के विरोध और अनहित में। यह आवाज़ हर समय-असमय नहीं लगाई जाती, वह भी सिर्फ़ तीन-चार मिनट से ज़्यादा के लिए नहीं। यह उस ईश्वर के गुणगान की आवाज़ होती है जो सबका ईश्वर है। इसमें उन पैग़म्बर का नाम आता है जो पूरी मानवजाति के हितैषी रहे हैं। यह आवाज़ किसी को कष्ट पहुंचाने के लिए नहीं, बल्कि ईश्वर की उपासना हेतु एकत्र होने के लिए लगाई जाती है।

❖❖